करते हों और कहने, समझाने-बुझाने और प्रार्थना करने से न मानते हों, तब मजदूर हड़ताल का हथियार उठाते हैं। प्रायः सभी सभ्य देशों में मजदूरों का हड़ताल करने का अधिकार मंजूर किया जाता है। हालाँकि हड़ताल में बलप्रयोग का अधिकार नहीं होना चाहिए, फिर भी सब हड़तालों में थोड़ा-बहुत बलप्रयोग होता है, पिकेटिंग भी किया जाता है और प्रायः सभी हड़तालों में मारपीट के भी उदाहरण मिलते हैं। ज्यादातर साम्यवादी इन्हें अनिवार्य मानते हैं और वर्गयुद्ध को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए जरूरी बताते हैं। रूस की महान् क्रान्ति इसी नीति का नतीजा है। वहां धनियों और ज़मींदारों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, हालांकि अब कुछ दिनों से इस भावना में कमी आने लगी है। साम्यवादियों के मतानुसार सारी सम्पत्ति सर्व-साधारण में बांट देनी चाहिए, जिससे हरएक शख्स संसार के सब ऐश आराम और सुख भोग सके। इसका एक उपाय ये साम्यवादी विचारक यह बताते हैं कि उत्पत्ति के सब ज़रियों पर राष्ट्र का क़ब्जा होजाना चाहिए। भारत में भी यह विचार आज कल बहुत प्रचलित होरहे हैं।

इस सम्बन्ध में संसार के वर्तमान समय के सबसे बड़े क्रांतिकारी विचारक महात्मा गाँधी के मत पर भी अब हमें विचार करना चाहिए। वे भी सम्पत्ति के वर्तमान विषम बटवारे को बहुत अवांछनीय समझते हैं। उनकी राय में अपने गुजारे भर के लिए आवश्यक सामग्री से अधिक लेना भी चोरी है। वे साम्यवादियों से कहीं ज्यादा जनसाधारण का हित और कल्याण चाहने वाले हैं। लेकिन उनकी कार्यपद्धति साम्यवादियों से नहीं मिलती, वह जितना लक्ष्य पर ध्यान देते हैं, उससे कम महत्व साधन पर नहीं देते। उनका कहना है कि वर्गयुद्ध या हिंसा आपस में द्वेष की ही

हमारे
अधिकार और कर्तव्य

प्रस्तावना लेखक
श्री० श्रीप्रकाश एम० एल० ए०

लेखक
कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार

: १३ :

हमारे कर्तव्य

६—७—३८

पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें एक नागरिक के क्या क्या अधिकार होते हैं यह बताने की कोशिश की थी। पर यह तो तुम समझ ही सकते हो कि जब हम एक समाज, देश या राष्ट्र में रहते हैं तो उस के नागरिक की हैसियत से सिर्फ अपने अधिकार का ही ख़याल नहीं रहना चाहिए। हमारा भी उस समाज, राष्ट्र या देश के प्रति कुछ क़र्ज़ होता है। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि जिस समाज, देश या राष्ट्र में हम रहते हैं, उसके प्रति हमारा जो फ़र्ज़ है, उसे अदा करने के बाद हम अपने अधिकार का दावा करें। बग़ैर अपना फ़र्ज़ अदा किये अपने अधिकार का दावा करना मेरी निगाह में चोरी है। इन आगे के पत्रों में मेरा इरादा अपने कर्तव्यों के बारे में चर्चा करने का है। यद्यपि अधिकारों के बजाय कर्तव्यों का विषय दिलचस्प कम होगा और उसमें हमें अपनी बुराइयों और कमियों पर निगाह डालनी होगी इस वजह से शायद कुछ अप्रिय भी मालूम हो पर मुझे आशा है कि जिस भावना से तुमने मुझ से यह पत्र-माला शुरू कराई है, उसमें तुम्हें यह भी दिलचस्प ही मालूम होगा।

कुछ दिन पहले मैं इटली के प्रसिद्ध विचारक और देश-भक्त जोसेफ़ मैज़िनो की 'मनुष्य के कर्तव्य' (Duties of man) नामक पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें मैज़िनी ने अपने शुरू के वक्तव्य में एक बहुत ही गम्भीर प्रश्न किया है। वह प्रश्न उस समय जितने ज़ोर के साथ किया जा सकता था, उतने ही ज़ोर से आज भी

प्रस्तावना

देश के सार्वजनिक क्षेत्र में थोड़ा बहुत काम करते-करते पचीस वर्ष मुझे भी हो गये। जब स्कूल और कालेज में पढ़ता था, तब भी विद्यार्थी-सम्बन्धी कुछ-न-कुछ सार्वजनिक काम करने का शौक था ही। इतने दिनों और विविध क्षेत्रों में काम कर चुकने के बाद यह प्रश्न मेरे मन में इधर कुछ दिनों से बराबर बड़े वेग से उठ रहा है कि क्या वजह है कि इतना त्याग और परिश्रम करने पर भी, हर क्षेत्र में इतने बड़े-बड़े सुयोग्य नेताओं के होते हुए भी हम भारतवासी सामूहिक रूप से वास्तविक उन्नति नहीं कर पा रहे हैं? देश वहीं का वहीं क्यों पड़ा हुआ है?

मैं तो इसी नतीजे पर पहुँच सका कि इसका मूल कारण यही है कि हमारे जन-साधारण में नागरिकता के गुणों का पूर्णतया अभाव है। थोड़े से बड़े बड़े व्यक्ति-विशेष हो ही कर क्या करेंगे, जब साधारण नर-नारी, ग्राम और शहर के वासी, अपने प्रतिदिन के अपने अधिकार और कर्तव्य को नहीं जानते और अपने जीवन को असंघटित रखकर सारे समाज का विच्छेद करते हैं। मैं स्वयं भी एतत्सम्बन्धी विषयों पर लिखता बोलता रहा और जब श्रीकृष्णचन्द्र विद्यालंकारजी ने अपनी पुस्तक 'हमारे अधिकार और कर्तव्य' मुझे दिखलाई तो मुझे विशेष प्रसन्नता हुई और जब उन्होंने उसकी प्रस्तावना लिखने का आग्रह मुझसे किया, तो मैंने उससे अपने को सम्मानित माना।

अधिकार और कर्तव्य ये एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जो पाना किसी व्यक्ति का अधिकार होता है, उसे करना दूसरे का कर्तव्य होना

है। जो करना किसी व्यक्ति का कर्तव्य होता है, वही पाना दूसरे का अधिकार होता है। समाज में देना-पावना हर क्षण लगा रहता है। इस कारण यह दोनों एक-दूसरे से ऐसे सम्बद्ध हैं कि इन्हें पृथक् करके देखना असम्भव है। ऐसी अवस्था में इटली के विधायक मात्सीनी की तरह, जिनका उल्लेख उचित प्रकार से इस पुस्तक में किया गया है, मुझे भी यही ठीक प्रतीत होता है कि कर्तव्यों पर ही अधिक ज़ोर देना चाहिए। कर्तव्य पालन करने से अपना उपयुक्त अधिकार स्वयं ही मिल जायगा।

कर्तव्य की ही शिक्षा देना अधिक उचित भी है। इससे मनुष्य अपने ही अधिकार न देख दूसरों के अधिकारों को पहचानता है और समाज में अपना स्थान समझता है। अधिकारों पर ही ज़ोर देने से अपनी प्रकृति के विवश मनुष्य की भावना कुछ दूसरी ही हो जाती है और वह संसार की रचना अपने सुख के लिए समझने लगता है। पुस्तक रचयिता ने एक अच्छी और नई शैली निकाली है और अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने किसी नवयुवक के नाम पत्र लिखे हैं। जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों में नियन्त्रित स्वतन्त्रता-सम्बन्धी जो विचार उत्पन्न हो सकते हैं, उनकी सरल भाषा में आपने अच्छी मीमांसा की है। पुराने और नये, पाश्चात्य और पूर्वी लेखकों के विचारों का संग्रह करके अपने मत की पुष्टि करते हुए अपने पाठकों को अच्छी और व्यवहार्य सलाह भी दी है। पुस्तक से सुन्दर तरह से प्रतीत होजाता है कि समाज को सुसंघटित करने और उसे सुचारू रूप से चलाने की भावना और आकांक्षा सब ही विचारवानों के मन में कितने दिनों से चली आ रही है।

हम बहुत दिनों तक व्यक्तिवादी रह चुके। अपनी-अपनी ढपली अलग-अलग बहुत बजा चुके। अपनी आत्मा के मोक्ष की खोज के बहाने बहुत स्वार्थ-साधन भी कर चुके। अपने महत्त्व की आकांक्षा से देश

को खराब भी बहुत कर चुके। आवश्कता अब इसकी है कि व्यक्ति और समष्टि का परस्पर का समुचित सम्बन्ध स्थापित हो और हमारे दलित समाज का उत्थान और उद्धार हो। नागरिकता के सच्चे ज्ञान से ही यह सम्भव है।

अस्पृश्यता और अविश्वसनीयता यह हमारी दो विशेषतायें रही हैं। और ये ही हमारी महा त्रुटियाँ भी रही हैं। शारीरिक अस्पृश्यता ही नहीं हमको एक दूसरे के प्रति मानसिक अस्पृश्यता भी है। यह भाव हमें एक दूसरे से अलग रखता आया है। परस्पर के विश्वास का तो पूरा ही अभाव है। छोटे बड़े किसी भी काम में कोई किसी पर वास्तव में पूर्णतया विश्वास कर ही नहीं सकता। समाज का संघटन इसी पर निर्भर करता है कि सब पर सब विश्वास कर सकें कि जो जिसका काम है, वह करेगा, जो जिसने करने का जिम्मा लियाहै वह पूरा होगा, जो व्यवहार अपने को प्रतिकूल प्रतीत होता है वैसा दूसरे के साथ कोई न करेगा, और ऐसे आचरण से सदा सब कोई परहेज करेगा, जिससे व्यर्थ का कष्ट किसी को हो अथवा उसकी सम्भावना हो। यह सब तभी सम्भव है, जब हममें नागरिकता के गुणों का सन्निवेश हो। यह अपने अधिकारों और कर्तव्यों के समझने पर ही निर्भर करता है। मुझे आशा है कि यह पुस्तक इन विषयों की आवश्यक शिक्षा देने में सफल होगी, और सर्व-साधारण इससे पूरा लाभ उठावेंगे।

सेवाश्रम, बनारस,

१२ अप्रैल १९३९। श्रीप्रकाश

दो शब्द

संसार की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर यदि हम एक नज़र डालें, तो हमें मालूम होगा कि इनकी तह में दो मुख्य कारण हैं। कहीं तो समस्याओं का कारण यह है कि मनुष्य अपने अधिकारों को ही नहीं जानता और इसलिए वह प्रबल द्वारा कुचला जा रहा है, शोषित हो रहा है। कहीं इस नाजुक हालत का इससे भिन्न कारण है कि मनुष्य अपने अधिकारों का स्वामी है, खूब शक्तिसम्पन्न है, लेकिन अपना कर्तव्य नहीं समझता और दूसरे के अधिकारों का अपहरण करने में लगा हुआ है। आर्थिक हो, राजनैतिक हो या सामाजिक, सभी क्षेत्रों में ये ही दोनों कारण आज प्रायः सभी समस्याओं के मूल में हैं। परतन्त्र देशों की, शोषित वर्गों की, दलित जातियों की तकलीफें पहले कारण को दूर करने से—अपने अधिकार समझने और उन्हें पाने से दूर हो सकती हैं। स्वतन्त्र बली राष्ट्रों और सम्पन्न श्रेणियों की समस्यायें अपना कर्तव्य समझने से—दूसरे का अधिकार अपहरण न करने से हल हो सकती हैं। वेद में जहां एक ओर "स्याम पतयो रयीणाम्" कहकर धनधान्य की प्रार्थना की गई है, वहां दूसरी ओर "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" कहकर दूसरे के स्वत्व-अपहरण का निषेध भी किया गया है। दूसरे का अधिकार छीन कर हम खुशहाल न बनें।

संसार के इतिहास में ऐसा अनेक बार हुआ है, जबकि एक निर्बल जाति या श्रेणी ने निरन्तर संघर्ष के बाद अधिकार पा लिये, लेकिन फिर भी उस देश में अशान्ति और संघर्ष बने ही रहे। इसका मुख्य कारण यह है कि वह स्वयं अधिकार पाकर दूसरे के अधिकार-रक्षा के अपनी

कर्तव्य को भूल गये। वे पहले स्वयं शोषित थे, पीड़ित थे, अब शोषक और पीड़क बन गये। अधिकार और कर्तव्य के समन्वय से ही दरअसल संसार की समस्याओं का हल हो सकता है। जहां स्वयं उन्नति करना बहुत ज़रूरी है, वहां दूसरे की उन्नति भी उससे कम ज़रूरी नहीं है। अधिकार और कर्तव्य के इस विवेचन का आधुनिक परिभाषा में नाम 'नागरिक शास्त्र' है।

यों तो आज हम भारतीयों को बहुत कुछ सीखना है, लेकिन नागरिक शास्त्र की शिक्षा हमारे लिये बहुत अधिक जरूरी है, क्योंकि न हम अपने अधिकार समझते हैं न अपने कर्तव्य। न हम लेना जानते हैं, न देना। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों तथा कर्तव्यों—दोनों का हमें ज्ञान प्राप्त करना है। इनके ज्ञान से ही हम सच्चे नागरिक होकर अपनी, अपने गांव या जिले की, अपनी मातृभूमि की और समस्त विश्व की उन्नति में सहायक हो सकते हैं।

इस विषय पर भी हिन्दी में दो चार से अधिक पुस्तकें मेरे देखने में नहीं आयीं। जो देखी हैं, वे विषय को रोचक और सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने की अपेक्षा राजनीति के विद्यार्थियों के लिए ही लिखी गई हैं। दूसरी कमी उनमें यह है कि लेखकों ने अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर ही अपने विषय का प्रतिपादन किया है, मानो भारतीय शास्त्रकार या हमारे पूर्वज इस सम्बन्ध में कुछ जानते ही न हों। इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में केवल अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई पुस्तकें जहां हमारी गौरव-हीनता की सूचक हैं, वहां हमारे लिए बहुत उपादेय भी नहीं हो सकतीं। इन बातों का ख्याल रखते हुए यह पुस्तक लिखी गई है। विषय को अधिक रोचक, सरल और मनोरंजक बनाने के लिए सारी पुस्तक को पत्रमाला का रूप दे दिया गया है। पत्रों में ऐसे

गम्भीर विषय को रखने में मैं कहां तक सफल हुआ हूं, यह नहीं कह सकता। इस दिशा में यह मेरा ही नहीं, शायद हिन्दी लेखकों की दृष्टि से भी यह पहला ही प्रयास है।

पुस्तक का अन्तिम पत्र, जिसमें क़ानून-सम्बन्धी चर्चा है, मैं लिख न पाता, यदि मेरे सुहृद् भाई हरिश्चन्द्र गोयल, वकील मुझे उचित परामर्श न देते। इस पुस्तक के लिखने में मुझे बीसियों पुस्तकों की सहायता मिली है, जिनमें से कुछ मुख्य ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं:—दी लिबर्टी इन दी मॉडर्न स्टेट (एच. जे. लास्की), दी लिबर्टी (जान स्टुअर्ट मिल), एन इंट्रोडक्शन टू सिविक्स एण्ड पॉलिटिक्स (पुणतांबेकर), गीता-रहस्य (बा० गं० तिलक), समाज-विज्ञान (चन्द्रराज भण्डारी), नागरिक शास्त्र (भगवानदास केला), हिंट्स आफ़ सेल्फ़ कल्चर (लाला हरदयाल) राज्यविज्ञान (गोपाल दामोदर तामसकर), दी ए० बी० सी० आफ़ सिविक्स (प्रो० वेणीप्रसाद), दी इण्डियन पिनल कोड और दी क्रिमिनल प्रोसीजर कोड। इनके अतिरिक्त कुछ पुस्तकों का उल्लेख पत्रों में भी कर दिया है। बाबू श्री श्रीप्रकाश एम-एल. ए. ने अपना अमूल्य समय निकालकर इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के छठे पत्र में चैकोस्लोवाकिया का ज़िक्र है, लेकिन वह फ़ार्म छपने के बाद वह भी हिटलर के सर्वग्रासी मुख में समा गया है अब उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही।

अन्त में विचारशील पाठकों से एक निवेदन है। यदि इस पुस्तक के सम्बन्ध में वे कुछ नये परामर्श देसकें, तो मैं उनका आभारी हूँगा और पुस्तक के द्वितीय संस्करण में उनका उपयोग करने का प्रयत्न करूँगा।

कृष्णचन्द्र

वैशाख संक्रान्ति १९९६]

विषय-सूची

व्यक्ति और समाज

प्रिय अशोक,

कल तुम्हारा तार पाकर मन बहुत प्रसन्न हुआ कि तुम परीक्षा में पास होगये हो और वह भी अपनी श्रेणी में सबसे पहले नम्बर पर। आज तुम्हारा पत्र मिला। उससे यह जानकर और भी खुशी हुई कि तुमने अपने भावी जीवन का उद्देश्य लोक-सेवा निश्चित किया है। मैं तुम्हारे इस विचार से पूर्ण रूप से सहमत हूँ कि आज के जमाने में प्रत्येक विद्यार्थी का अपना जीवनोद्देश्य लोकसेवा ही बनाना चाहिए।

यहां सभी परिवार के लोग तुम्हें परीक्षा में पास होने पर बधाई देरहे हैं। सबकी इच्छा है कि तुम दो चार दिन के लिए यहाँ जरूर आ जाओ। मुझे आशा है कि तुम्हें भी इसमें कोई ऐतराज न होगा। परीक्षा के बाद कुछ दिन आराम कर लेना जरूरी भी होता है। आजकल की परीक्षा-पद्धति का अविष्कार किसने किया है और उसका उद्देश्य क्या रहा होगा, यह तो हम नहीं जानते लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि उसका ख़याल परीक्षा को आजकल का सा भयावना और स्वास्थ्य को चोपट करने वाला तो न रहा होगा। यह खुशी की बात है कि आजकल भारतीय शिक्षा-विशारदों का ध्यान भी इस ओर गया है।

तुमने अपने पत्र में एक बड़ी भारी जिम्मेदारी मुझ पर डालना

चाही है। तुम प्रत्यक्ष सेवा कार्य में प्रवेश करने से पहले तुम्हारे कार्य की दिशा क्या हो और सबसे पहले कौन-सा कार्य लो, इस विषय में मेरी सलाह चाहते हो। तुमने तो राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन भली भांति कर लिया है, हिन्दुस्तान की हालत से भी परिचित हो, और यह भी तुमसे छिपा नहीं है कि आज हमें किस चीज़ की ज़रूरत है। ऐसी हालत में समझ में नहीं आता कि मैं तुम्हें क्या तो कार्य-दिशा बताऊँ और क्या तुम्हें भावी कार्य के बारे में कोई सलाह दूँ? लेकिन लोकसेवा के एक खास अंग हमारे नागरिक अधिकार और कर्तव्य के बारे में मेरे कुछ अपने विचार हैं। सम्भव है, उनसे तुम्हें कुछ सहायता मिले और अपना कार्यक्रम निश्चित करने में कुछ सहूलियत हो, इस कारण इस बारे में अपने विचार इन पत्रों में देने का मेरा खयाल है।

अपने विषय की चर्चा करने से पहले मनुष्य या मनुष्यसमाज क्या है, कर्तव्य क्या है और अधिकार क्या है, आदि प्रारम्भिक बातों पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिये। इससे हमें आगे की बातें समझने में बड़ी सहूलियत रहेगी।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सिर्फ यह नहीं कि वह समाज में रहना चाहता है, लेकिन वह समाज की सहायता के बिना छोटी-से-छोटी हरकत भी नहीं कर सकता। भोजन, पानी, कपड़े आदि सभी ज़रूरतों के लिए उसे दूसरे व्यक्तियों का सहयोग लाज़िमी होता है। भोजन की तैयारी में किसान, किसान के हथियार आदि बनाने वाले बढ़ई, लुहार, कुम्हार, पानी के लिए नहरें खोदनेवाले मज़दूर, एंजीनियर, गेहूँ साफ़ करनेवाले, आटा पीसने वाले और रोटी बनाने वाले आदि कितने ही व्यक्तियों की ज़रूरत होती है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए

गाड़ी या तांगेवाले, गाड़ी बनानेवाले लुहार और बढ़ई, सड़क कूटने-वाले, घोड़े की रास वग़ैरा बनाने वाले मोची आदि और रेल चलानेवाले. स्टेशन के विभिन्न कर्मचारी, रेल व इंजिन बनानेवाले आदि सैंकड़ों व्यक्तियों की अपेक्षा होती है। मनुष्य कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, समाज के सहयोग के बिना वह अपना साधारण गुज़र भर भी नहीं कर सकता।

मनुष्य केवल अपने समकालीन या पड़ोसी समाज की सहायता पर ही अवलम्बित नहीं रहता। वह हज़ारों—और हिन्दुओं के अनुसार लाखों—बरसों पूर्व के समाज का भी ऋणी है। मनुष्य जाति ने—हमार पूर्वजों ने धीरे-धीरे सभ्यता का जो विकास किया है, उससे हम सब लाभ उठाते हैं। आज हम जितने वैज्ञानिक आविष्कार देख रहे हैं, जो हमारे जीवन के लिए ज़रूरी से मालूम होते हैं, वे भी हजारों बरसों तक मनुष्य के क्रमिक विकास के फल हैं। मानवसमाज सृष्टि के प्रारंभ से ही इतना सुशिक्षित और साधन-सम्पन्न नही था। उसने बहुत धैर्य के साथ अपनी शिक्षा बढ़ाई है, एक-एक करके अपने साधन बढ़ाये हैं और हरेक साधन का धीरे-धीरे विकास व परिष्कार किया है। शान्ति व धैर्य के साथ किये गये इन हज़ारों और लाखों बरसों के परीक्षणों का ही यह फल है कि मनुष्य आज इतनी सभ्यता का का दावा कर सकने लगा है। रहन-सहन. खेती तथा अन्न वैज्ञानिक आविष्कार ही नहीं, दर्शन, राजनीति. अर्थशास्त्र. चिकित्सा, आमद-रफ्त के साधन, उद्योग-धन्धे तथा हमारी दार्शनिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक विचारधारायें तक सैंकड़ों हज़ारों बरस पहले के मनुष्य के गंभीर और निरन्तर प्रयत्नों की ऋणी हैं। स्वयं समाज का भी धीर-धीरे विकास हुआ है।

मनुष्य के जीवन के लिए समाज अनिवार्य है। इसलिए उसकी

रक्षा भी अनिवार्य है। यदि समाज विश्रृंखल या शिथिल होजाता है, विखर जाता है या नष्ट हो जाता है, तो इसका लाजिमी असर मनुष्य पर भी पड़ेगा। संगठित और उन्नत समाज ही मनुष्य की उन्नति का साधन है। यदि वह विखर गया, शिथिल हो गया या नष्ट हो गया, तो वह मनुष्य का भी हितसाधन न कर सकेगा और इसका नतीजा यह होगा कि मनुष्य भी नष्ट हो जायगा। धर्म के बारे में कहा गया है कि "धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः" अर्थात् मरा हुआ धर्म मनुष्य को भी मार देता है और रक्षित धर्म मनुष्य की रक्षा करता है। समाज मनुष्य को धारण करता है, इसलिए उसे भी धर्म कहा जा सकता है। यदि समाज की रक्षा न की गई, उसे मार दिया गया या नष्ट कर दिया गया तो यह मर कर मनुष्य को भी मार देगा। इस बात पर इतना जोर देने का एक कारण है। मैं यह समझता हूँ और मेरा खयाल है कि तुम भी इससे सहमत होगे कि हम भारतीयों को यह सत्य समझ लेने की सबसे अधिक आवश्यकता है कि समाज व्यक्ति से छोटा नहीं है। हम भारतीय व्यक्ति के आगे समाज की उपेक्षा कर जाते हैं। अपने निजी लाभ की चिन्ता से हम दूसरों की -अपने कुल, मुहल्ले, गाँव, शहर या देश-भर की हानि करने में जरा भी सकोच नहीं करते। तुम्हें गांव या शहर में रहते हुए ऐसे बहुत से मौक़े मिलेंगे, जब तुम इस सचाई को अनुभव करोगे। तुम देखोगे कि किस तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने घर का सारा कूड़ा-कचरा गली में विना किसी झिझक के फेंक देता है या अपने घर के बालकों को दूसरों के घर के सामने टट्टी फराने को विठा देता है, या चेचक आदि छूत के रोग को फैलाने से रोकने का कोई प्रयत्न नहीं करता या ऐसी कई बातें करता है जिसमें वह अपनी सफ़ाई, सुविधा या लाभ का खयाल कर लेता है, लेकिन उससे दूसरे का—हमारे पड़ोसी का—हमारे शहर का—हमारे समाज का—हमारे देश का

क्या अहित होता है, इस ओर जरा भी ध्यान देने की कोशिश नहीं करता।

सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी इस तरह के सैकड़ों उदाहरण देखने को तुम्हें मिलेंगे। इसका परिणाम भी हमारे सामने है। इससे, न केवल समाज की हानि होती है, बल्कि व्यक्तियों की अपनी हानि भी कम नहीं होती।

समाज के भी अनेक रूप हैं। परिवार, सभा, कम्पनी, संथा, म्यूनिसिपल कमेटी, सरकार आदि अनेक रूपों में हम मनुष्य का सगठन पाते हैं। कोई ऐसी संस्था, जिसमें एक से अधिक व्यक्ति आपस में मिलते हैं, समाज का एक रूप है। जब स्त्री और पुरुप विवाह सूत्र में बंधते हैं या एक मुहल्ले, ग्राम, शहर या देश के रहने वाले मिलकर कोई सरकार क़ायम करते हैं या कोई राजा लोगों को मिलने के लिए बाधित करता है, या कुछ थोड़े अथवा बहुत आदमी किसी उद्देश्य से कोई संगठन—चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक हो—बनाते हैं, तब वे सब समाज के ही विभिन्न रूप बनाते हैं। ये जुदे-जुदे समाज अपने-अपने क्षेत्र में मनुष्य की भलाई करते हैं। जहां-जहां इन समाजों की उपेक्षा की जायगी, वहां-वहां इन समाजों के अंग नुकसान उठायेंगे। इसके लिए तुम्हें उदाहरण देने की जरूरत नहीं। एक ग्राम-पंचायत जब तक संगठित, बलशाली और प्रगतिशील है उस गांव के रहने वालों की भी हालत अच्छी होगी। ग्राम-पंचायत के शिथिल होते ही गांव वालों की उन्नति भी रुक जाती है। तुम तो इतिहास के विद्यार्थी हो। भारत में अंग्रेजी राज के आने के साथ ही ग्राम-पंचायतों की पुरानी और उपयोगी संस्था नष्ट होगई। इसका जो भीषण और घातक असर भारतीय समाज पर पड़ा, उसे तुम भली भांति जानते हो। जब किसी देश की सरकार

कमज़ोर हो जाती है तव उस देश की हालत भी गिर जाती है। एक व्यापारिक कम्पनी की हालत बिगड़ने का असर उसके शेयर-होल्डरों पर ज़रूरी तौर पर पड़ता है। मतलब यह कि मनुष्य की उन्नति के लिए समाज की रक्षा जरूरी है। प्रत्येक भारतीय को यह सत्य समझने की ज़रूरत है। लोगों को यह समझना इतना कठिन नहीं है, जितना उनके आचरण में इसको उतारना है।

लेकिन सिर्फ समाज ही तो हमारा उद्देश्य नहीं है। समाज मनुष्य की उन्नति का साधन है, उद्देश्य नहीं। जो लोग समाज की उन्नति की चिन्ता में इतना अधिक उलझ जाते हैं कि मनुष्य की निजी उन्नति का ख़याल तक छोड़ देते हैं, वे भी भूलते हैं। समाज या संघ इसलिए नहीं कि वह अपने अवयव रूप सदस्यों के व्यक्तित्व का नाश करदे। वह तो उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायता देने के लिए है। लेकिन हम दुनिया के इतिहास में ऐसे हज़ारों उदाहरण देखते हैं, जब समाज ने मनुष्य की उन्नति की वनिस्वत उसका पतन ही अधिक किया है। हर्बर्ट स्पेंसर तो समाज के अत्याचार से इतने अधिक दुखी और क्षुब्ध हुए कि उन्होंने एक जगह कहा है कि राज्य रक्षक की अपेक्षा भक्षक ही अधिक हैं। साम्राज्यवादी सरकारों की सेनायें ही नहीं, धर्म ने भी संगठित समाज के रूप में मानवजाति पर जो भीषण अमानुषी और रोमांचकारी अत्याचार किये हैं, उनकी कहानी बड़ी ही करुण है। इसी समाज ने करोड़ों मनुष्यों के राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक अधिकारों को छीनकर उनकी दशा बहुत शोचनीय कर दी है। पूँजीवाद ने किसानों और मजदूरों की, धार्मिक समाज ने स्त्रियों और अछूतों की और विदेशी शासन ने पराधीनों की जो स्थिति की है, वह तुमसे छिपी नहीं है। ऐसा समाज जो व्यक्ति की उन्नति में सहायक नहीं होता, व्यक्ति के लिए आदर का पात्र

किस तरह हो सकता है ? जिस समाज में मनुष्य को बोलने, अपने धार्मिक विचार मानने, चलने फिरने, स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है, मनुष्य उस समाज की चिन्ता क्यों करेगा ?

इसलिए समाज ऐसा होना चाहिए, जिसमें उसके अवयवभूत मनुष्यों के अधिकारों पर हमला न होता हो । समाज साधन ही रहे, उद्देश्य न बन जाय । उस समाज में रहकर मनुष्य सुखी हों, समृद्ध हों और उन्नतिशील हों । समाज मनुष्य की चहुंमुखी उन्नति का कारण और सहायक बने बाधक न बने । साधन और उद्देश्य का भेद एक उदाहरण से साफ़ करदूं । भारत के पुराने शास्त्रकारों के मत से मानवजीवन का उद्देश्य है मोक्ष या सुख को पाना । आत्मा सुख की प्राप्ति के लिए कोशिश करता है । इस उद्देश्य के लिए परमात्मा ने मनुष्य को शरीर साधन रूप में दिया है । पर जब मनुष्य आध्यात्मिक सुखप्राप्ति के उद्देश्य को भूलकर शरीर की सेवामें लग जाता है, तब वह अपने अन्तिम उद्देश्य तक कभी नहीं पहुँच सकता । यह ठीक है कि शरीर साधन की भी रक्षा जरूरी है. लेकिन शरीर को ही उद्देश्य मान लेना भूल है ! स्वस्थ और पुष्ट शरीर की इसलिए जरूरत है कि उससे अपने उद्देश्य तक आसानी से पहुंचने में सहायता मिल सकती है ।

लेकिन समाज बनाने के लिए भी व्यक्ति को कुछ-न-कुछ त्याग करना पड़ेगा, किन्हीं नियमों का पालन करना पड़ेगा, समाज की रक्षा के लिए कुछ आवश्यक बंधन अपने ऊपर लगाने पड़ेंगे । यदि मनुष्य समाज की रक्षा की ओर से लापरवाह हो जाय, उसकी चिन्ता न करे तो समाज नष्ट हो जायगा और नष्ट समाज व्यक्ति को भी नष्ट होने से बचा न सकेगा । समाज की

रक्षा भी करनी है और समाज को इतना भी ज़बरदस्त नहीं होने देना कि वह व्यक्ति पर हावी होजाय और उसकी उन्नतिको बिलकुल रोक दे। समाज मनुष्य की उन्नति में बाधक न हो, और मनुष्य समाज को उन्नति में बाधक न हो। दोनों एक दूसरे की उन्नति में मददगार हों।

ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए मनुष्य को समाज के प्रति जो कुछ करना पड़ता है, वह उसका कर्तव्य है। इसके बदले में समाज को भी मनुष्य के जिन हितों की चिन्ता करनी चाहिए, वे मनुष्य के अधिकार हैं। समाज और विशेषकर ग्राम, नगर या देश के प्रति इन्हीं कर्तव्यों और अधिकारों के शास्त्र का नाम आजकल के पश्चिमी विचारकों ने 'नागरिक शास्त्र' या Civics रखा हुआ है। मनुष्य एक हाथ से समाज को अपने कर्तव्य पालन के रूप में कुछ देता है और दूसरे हाथ से अपनी अधिकार रक्षा के नाम से कुछ ले लेता है। यह 'ले' और 'दे' का, ममत्व और समत्व का या स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ का समन्वय ही हमें समझने की ज़रूरत है। मि० ह्वाइट के कथनानुसार अहंकार पर परोपकार को विजय ही नागरिक शास्त्र का सार है। हम भारतीयों की हालत तो यह है कि हम न देना जानते हैं और न लेना। न तो हमें समाज को रक्षा की चिन्ता है और न अपने अधिकारों की रक्षा की।

मैं चाहता हूँ कि आगे के कुछ पत्रों में इसी विषय पर कुछ प्रकाश डालूं। मैं नहीं जानता कि इस क्रम को कहांतक निभा सकूंगा, लेकिन मैं कोशिश ज़रूर करूंगा कि कुछ पत्रों में इस विषय के जुदे-जुदे अंगों पर रोशनी डाल सकूँ। मनुष्य की उन्नति उद्देश्य है और समाज उसका साधन है, इसलिए मैं पहले मनुष्य

के अधिकारों की चर्चा करूंगा और बाद में उसके कर्तव्यों की। कर्तव्यपालन की भावना जरूरी होते हुए भी अधिकारों की इच्छा अधिक स्वाभाविक और वांछनीय होती है, इसलिए भी अधिकारों की चर्चा पहले होनी चाहिये।

पर एक बात लिख दूं। मेरा दूसरा पत्र तब तक न आयगा, जब तक कि तुम एक बार आ न जाओगे। परीक्षा के बाद आराम आवश्यक है। फिर यहां भी सभी तुमसे मिलना चाहते हैं। आने की तारीख व गाड़ी से सूचित करना।

तुम्हारा स्नेहाधीन

कृष्णचन्द्र

: २ :

मेरे अधिकार

१५-५-३८

तुम्हारे आने की बाट बहुत देखी, लेकिन तुम न आ सके। अच्छा, फिर कभी सही।

मैंने पिछले पत्र में तुमसे समाज के प्रति हमारे कर्तव्य और हमारे अधिकारों की थोड़ी सी चर्चा की थी। पर यह समाज है क्या, यह कैसे बना और मनुष्य व समाज का आपस में क्या सम्बन्ध है, इस पर कुछ ज्यादा विचार करने की जरूरत है।

ऐतिहासिकों का कहना है कि दुनिया के शुरु में मनुष्य बिलकुल स्वतन्त्र था। उसके लिये कोई बन्धन न था। वह जगल में रहता और शिकार करके अपना पेट भरता था। मनुष्य व मनुष्य के बीच के आपसी सम्बन्ध का तथा विवाह, खेती और पशुपालन आदि तक का उसे ज्ञान न था। धीरे-धीरे जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ता गया, और उसे जीवन में कठिनाइयां महसूस होती गई, वैसे वैसे एक दूसरे मनुष्य की सहायता की आवश्यकता जिसे हम सहयोग या समाज की आवश्यकता कह सकते हैं—भी महसूस होती गई। समाज रचना के क्रमविकास का यह इतिहास बहुत दिलचस्प है। समाज रचना का वर्तमान रूप बहुत—सी सीढ़ियों को पार करने के बाद आया है। एक प्रसिद्ध अङ्ग्रेज विद्वान के कथनानुसार मनुष्य तीन अवस्थाओं—जंगली समाज, कौटुम्बिक समाज और राजकीय समाज की अवस्थाओं को पार कर वर्तमान स्थिति तक पहुँचा है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों विस्तृत और संगठित समाज की आवश्यकता ज्यादा अनुभव करता गया, उसके संगठन का दायरा भी उतना ही बड़ा होता गया। समाज रचना का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति था। अकेले रहकर सुख पाना कठिन था, इस कारण उसने दूसरे व्यक्ति को साथ लिया। परिवार से उसे सुख मिला तो सही, लेकिन वह पूरी तौर पर बेफ़िक्र न हो सका इसलिये उसे अपना दायरा और बड़ा करना पड़ा। बलवान आक्रमणकारियों के हमले से बचने के लिए उसने दूसरे मनुष्य के साथ मिल कर इकट्ठा रहना शुरू किया। इसमें भी उसका मुख्य उद्देश्य अपनी स्वाधीनता की रक्षा था। लेकिन इस से भी उसका उद्देश्य पूरा न हुआ। एक बलवान दल दूसरे दल पर हमला न कर सके, इसलिए उसे अपने संगठन का दायरा और भी विस्तृत करना पड़ा। इसी तरह बढ़ते-बढ़ते छोटे बड़े राज्य पैदा हुए। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—"पहले राजाओं के न होने के कारण समाज में बड़ी अव्यवस्था रहती थी। चारों ओर मत्स्य-न्याय का प्रचार देखने में आता था। बलवान लोग निर्बलों को खा जाते थे। इस गड़बड़ी को मिटाने के लिए सब लोगों ने मिलकर नियम बनाया कि जो कोई दूसरे से कठोर भाषण या मारपीट करेगा, अथवा दूसरे के धन और स्त्रियों पर आक्रमण करेगा, उसका हम बहिष्कार कर देंगे। यह नियम चारों वर्णों पर एक सा लागू होगा।" इस नियम का भी पूरा प्रभाव नहीं पड़ा। तब सब प्रजा दुःखी होकर ब्रह्मा के पास गई और उनसे कहने लगी कि हमें एक ऐसा अधिपति दीजिए, जो सब लोगों को इस नियम का पालन करने के लिए विवश करे। यह सुनकर ब्रह्मा ने मनु को यह काम करने की आज्ञा दी। मनु ने यह कहकर इससे इन्कार कर दिया कि पापाचरण करने वालों पर शासन करना भी पाप है। तब प्रजा ने मनु से कहा कि—

"राष्ट्र में जो पाप होगा, वह कर्त्ता को लगेगा, तू भय मत कर। तुझे हम पशुओं का पचासवां और अनाज का दसवां हिस्सा इन्तजाम के लिए देंगे। अस्त्र, अस्त्र और वाहन से संयुक्त हमारे सैनिक हमेशा तेरे साथ रहेंगे। इसके सिवाय हम लोग अपने धर्माचरण का भी चौथा भाग तुम्हें देंगे। तू सुख और आनन्द के साथ राज्य कर।[१]" मनु ने इस शर्त को स्वीकार करके राज्य-भार ग्रहण किया।

इसके बाद राज्यकल्पना में भी विकास होने लगा और उस के अनेक रूप बन गये।

पर कैसा आश्चर्य है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की स्वाधीनता की रक्षा के लिए ये नवीन साधन उत्पन्न होते गये, त्यों-त्यों मनुष्य के पैरों ज्यादा-से-ज्यादा गुलामी की जंजीरें पड़ने लगी। जिस रोग के इलाज के लिए धर्म, सामाजिक व्यवस्था और राज्य आदि साधन बनाये गये, उस रोग को हटाने के लिए उन सबने एक नयी बीमारी पैदा करदी। "समाजरचना के गर्भ में से सामाजिक गुलामी धर्म के गर्भ में से धार्मिक गुलामी और राज्यसत्ता के गर्भ में से राजनैतिक गुलामी का जन्म होगया। ज्यों-ज्यों उसके सामाजिक सगठन का दायरा फैलता गया, उस की गुलामी भी बढ़ती गई। परिवार के साथ पारिवारिक बन्धन भी आगये। स्त्री को तो विशेषकर पति के अधीन होना पड़ा। पुरुष पर भी कम बन्धन थे, उसे अब अपनी ही नहीं, अपने परिवार की चिन्ता भी करनी पड़ी। अब उसकी गति में पहले की सी स्वच्छन्दता न रही कि जहाँ चाहा, चल दिया। परिवार के बाद दल और गण की पराधीनता आई। परिवारों

१ महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय ६६।

को भी दलों व गणों की इच्छा के अनुसार चलना पड़ा। परिवार की इच्छा पर दल या गण की इच्छा हावी होगई। उसके बाद राज्य की सत्ता आई और वह दल या गण पर भी हावी हो गई। यह याद रखना चाहिये कि राज्यों के बन्धन सब जगह मनुष्य ने स्वयं ही अपने ऊपर नहीं लादे। बहुत-सी जगहों पर बलवान मनुष्य या जाति ने दूसरों पर जबरदस्ती अधिकार स्थापित कर लिया। बल-प्रयोग का यह सिलसिला आजतक दुनिया में उसी तेज़ रफ़्तार से जारी है। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है कि दुनिया की शुरूआत में मनुष्य जितना खूंख़ार था, आज हज़ारों और लाखों साल गुजरने के बाद भी; सभ्यता की दिशा में इतनी मंजिलें पार करने के बावजूद भी वह उतना ही खूंख़ार है। साधनों की विविधता और प्रबलता हो जाने से उसकी विनाशक प्रकृति और भी अधिक भयंकर रूप में प्रकट होने लगी है। मानव जाति का समस्त इतिहास ही आपसी मारकाट, लड़ाई, खून ख़च्चर और क़तलेआम से भरा पड़ा है। छोटे-बड़े राज्य या बड़े-बड़े साम्राज्य इसी हिंसा के परिणाम दीख़ते हैं। यह संसार का इतिहास भी तो एक प्रकार से मारकाट, खूनख़च्चर, लूटमार आदि की एक सूची ही तो है। पर यह मैं थोड़ा अपने विषय से भटक गया। मैं कहना तो यह चाहता था कि ज्यों-ज्यों मनुष्य का सामाजिक संगठन इच्छा से या विवशता से विस्तृत और दृढ़ होता गया, उसकी आज़ादी भी उसी क्रम से कम होती गई। व्यक्ति, परिवार दल या गण और राज्य सबकी आज़ादी उत्तरोत्तर अपने से बड़े और ताक़तवर संगठनों में विलीन हो जाती है।

राज्य और साम्राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण कैसे करते हैं, यह देखने के लिये दूर जाने की ज़रूरत नहीं। ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों पर एक नज़र डाल लेना काफ़ी

होगा। रियासती प्रजा को अपने संगठन का कोई अधिकार नहीं। उस पर राजा कितने ही मनमाने कर क्यों न लगा दे, प्रजा चूं नहीं कर सकती। लेकिन रियासती प्रजा को दबाने वाले राजा खुद भी ब्रिटिश सरकार के आगे इतने ही पराधीन हैं। ब्रिटिश भारत की प्रजा का भी अच्छा हाल नहीं है। सरकार को प्रत्येक प्रकार का छोटा-बड़ा टैक्स लगाने का अधिकार है। जनता का कोई भी जोरदार आन्दोलन लाठियों, मशीनगनों, हवाई जहाजों द्वारा बम-वर्षा से दबाया जा सकता है। भारत की आर्थिक नीति पर अङ्गरेज़ सरकार का कब्जा है। सभी गुलाम राष्ट्रों की प्रजा की हालत है। बहुत से स्वतन्त्र फ़ासिस्ट राज्यों में भी प्रजा के अधिकारों को इसी तरह कुचला जाता है। पुराने जमाने की बातें न भी देखें, तो भी आज की दुनिया में भी इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। एकतंत्र या डिक्टेटर शासन वाले देशों में आज भी प्रजा की गुलामी की ऐसी सैकड़ों मिसालें मिलती हैं। रूस, इटली, जर्मनी के हाल तुम रोज़ अखबारों में पढ़ते ही हो। वहां की सारी जनता स्टेलिन, मुसोलिनी और हिटलर की इच्छा के खिलाफ़ चूँ भी नहीं कर सकती। कहने का मतलब यह कि समाज के संगठन का नतीजा अन्त में जाकर मनुष्य की गुलामी में परिवर्तित हो जाता है।

सिर्फ़ राजकीय संगठन ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक संगठनों ने भी मनुष्य की आज़ादी को कुचलने में कोई कसर नहीं उठा रखी। अपने चारों ओर एक नज़र देखो तो पता चलता है कि समाज ने दलितों के साथ कैसा भयंकर व्यवहार किया है। पशुओं की अपेक्षा भी उन्हें गन्दी हालत में रखा जाता है। उन्हें छूना ही नहीं, उनकी छाया पड़ जाना भी पाप समझा जाता है और इसके लिए कपड़े धोकर नहाना पड़ता है।

बहुत-सी आम सड़कों पर चलने तक की उन्हें आज्ञा नहीं है। देवमन्दिरों में दर्शन करने, सार्वजनिक कुओं पर नहाने, पानी भरने और स्कूलों में पढ़ने की भी उन्हें मनाही है। यही नहीं बल्कि अपने घर में अच्छा खाना और अच्छा कपड़ा तक उन्हें नहीं खाने पहनने दिया जाता। नन्हा सा हरिजन बालक प्यास के मारे तड़प रहा हो, कीड़े-मकोड़ों से खाया जा रहा हो, पानी में डूब रहा हो, लेकिन उच्च सभ्यताभिमानी ब्राह्मण उसे नहीं बचावेगा; क्योंकि उसके छू जाने से वह अपवित्र हो जायगा। हिन्दुस्तान को छोड़दें रोम के पैट्रियार्कोंने लीबियनों के साथ जो दुर्व्यवहार किया, वह भी इतिहास से स्पष्ट है। हमारे यहाँ स्त्रियों के साथ भी तो धर्म और समाज ने कम अन्याय नहीं किया। सब दुर्गुणों की खान बताकर उन्हें सामाजिक जीवन में बिलकुल पतित कर दिया गया। केवल हिन्दू-धर्म में ही नहीं, दूसरे भी कई धर्मों ने स्त्री के साथ जो खोलकर अन्याय किया। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" कहकर उसे ज्ञान और शिक्षा से वंचित कर दिया। धर्म की दुहाई देकर विधवाओं पर जो रोमांचकारी अत्याचार किये गये, उनकी अपनी ही एक दुःखद कहानी है। कहने का मतलब यह कि जिस रूप में मनुष्य ने संगठित होकर अपनी उन्नति चाही, उसी रूप ने मनुष्य के अधिकार छीनने की पूरी कोशिश की, हालांकि संगठन का उद्देश्य बिलकुल इसके उलटा था। मनुष्य ने अपने नैतिक विकास और सुख प्राप्त करने के लिए कोशिश की, लेकिन उसके गले गुलामी का इतना ज़बर्दस्त जुआ पड़ गया कि वह संगठन के अभाव में भी जो उन्नति कर सकता था उससे भी वञ्चित हो गया।

जब मनुष्य ने अपनी यह पराधीनता अनुभव की, तब उस में प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। वह ऐसे समाज का विरोध करने

के लिए कमर कसकर खड़ा हो गया। उसने डंके की चोट यह घोषणा कर दी कि वह गुलाम बनकर नहीं रहेगा। यह ठीक है कि यह अनुभव करने में मनुष्य को बहुत वक्त लग गया। पर जब एक बार वह समझ गया, तो समाज, राज्य या धर्म सब बंधनों को, जिनसे वह जकड़ा हुआ था, एक बारगी तोड़ फेंकने के लिए खड़ा हो गया। कई क्रान्तिकारियों ने तो जोश में आकर यहाँ तक कहना शुरू कर दिया कि मनुष्य जाति के फ़ायदे के लिए इनका एक दम नाश हो जाना ही जरूरी है। अराजकतावाद, अनीश्वरवाद और साम्यवाद जैसे क्रान्तिकारी वादों के पैदा होने का भी यही कारण है। मनुष्य को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सदियों युद्ध करना पड़ा। वह बहुत बार नाकामयाब हुआ, लेकिन वह निराश नहीं हुआ। दुगने वेग से फिर जुट गया। उसे बहुत जगहों पर सफलता मिली और बहुत जगहों पर असफलता का भी सामना करना पड़ा। दुनिया के प्रायः सभी कोनों में यह युद्ध अब तक भी जारी है और जब तक मनुष्य अपने पूर्ण अधिकारों को प्राप्त नहीं कर लेगा, तब तक जारी ही रहेगा।

परन्तु इन अधिकारों का ज़िक्र करने से पहले एक बात फिर कह दूँ। मनुष्य ने अपनी आज़ादी क़ायम रखने के लिए ही—बलवान आक्रमणकारी मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात न कर सके, इस उद्देश्य से समाज या राज्य की कल्पना की थी। अधिकारों की कल्पना संगठित समाज के बिना हो ही नहीं सकती समाज में रहकर ही अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं और समाज के लिए कुछ बन्धनों का होना ज़रूरी है। मतलब यह कि अधिकारों की रक्षा के लिए बन्धन लाज़मी है। जब कोई संगठन न हो, तब जान-माल का ठिकाना भी नहीं रहता। और इस हालत में कौन स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है? इस समय

यदि किसी बात की आज़ादी है तो मारने की और मरने की। ऐसी हालत में किसी उद्देश्य के अनुसार कार्य करना संभव नहीं होता। जब लोगों की मनमानी चलने लगती है, तब क्या लोगों की स्वतन्त्रता किसी भी रूप में बची रह सकती है? भीष्म पितामह शान्तिपर्व में कहते हैं: "राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम्?" सरकार ही न हो तो हमारे परिवार और धन की रक्षा की गारन्टी नहीं हो सकती।

राज्य या समाज का कोई संगठन मनुष्य पर कुछ बंधन लगाता है। लेकिन जब यही बन्धन इतने अधिक अनिश्चित और असीमित हो जावें कि मनुष्य की आज़ादी कुचली जाने लगे, तब इन बन्धनों पर और इनके केन्द्रीभूत राज्य पर भी कुछ नियन्त्रण ज़रूरी हो जाता है। इस नियन्त्रण का उद्देश्य है मनुष्य की उस आज़ादी की रक्षा करना, जिससे वह अपने नैतिक विकास की ओर से निश्चिन्त होकर प्रगति कर सके। मनुष्य पर राज्य का बन्धन मनुष्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए और राज्य पर मनुष्य का नियन्त्रण या बंधन राज्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए लगाया जाता है। पहले प्रकार के बन्धन मनुष्य के कर्तव्य हैं और दूसरे प्रकार के बन्धन मनुष्य के अधिकार हैं। इन्हीं अधिकारों के लिए वह राज्य से पिछली सदियों में लगातार युद्ध करता रहा है। ये अधिकार थोड़े में इस प्रकार हैं:—

१. शारीरिक स्वतन्त्रता—मनुष्य को जिन्दा रहने का पूरा अधिकार है। वह राज्य से यह आशा करता है कि वह उस के जीवन की रक्षा करेगा। उसे न कोई व्यक्ति नष्ट कर सके और न राज्य ही उस पर बिला वजह हावी हो सके या कष्ट दे सके।

२. मानसिक स्वतन्त्रता—मनुष्य को अपने स्वतन्त्र विचार रखने, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म की

के लिए कमर कसकर खड़ा हो गया। उसने डंके की चोट यह घोषणा कर दी कि वह गुलाम वनकर नहीं रहेगा। यह ठीक है कि यह अनुभव करने में मनुष्य को वहुत वक्त लग गया। पर जव एक वार वह समझ गया, तो समाज, राज्य या धर्म सव वंधनों को, जिनसे वह जकड़ा हुआ था, एक वारगी तोड़ फेंकने के लिए खड़ा हो गया। कई क्रान्तिकारियों ने तो जोश में आकर यहाँ तक कहना शुरू कर दिया कि मनुष्य जाति के फ़ायदे के लिए इनका एक दम नाश हो जाना ही जरूरी है। अराजकतावाद, अनीश्वरवाद और साम्यवाद जैसे क्रान्तिकारी वादों के पैदा होने का भी यही कारण है। मनुष्य को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सदियों युद्ध करना पड़ा। वह वहुत वार नाकामयाव हुआ, लेकिन वह निराश नहीं हुआ। दुगने वेग से फिर जुट गया। उसे वहुत जगहों पर सफलता मिली और वहुत जगहों पर असफलता का भी सामना करना पड़ा। दुनिया के प्रायः सभी कोनों में यह युद्ध अव तक भी जारी है और जव तक मनुष्य अपने पूर्ण अधिकारों को प्राप्त नहीं कर लेगा, तव तक जारी ही रहेगा।

परन्तु इन अधिकारों का ज़िक्र करने से पहले एक वात फिर कह दूँ। मनुष्य ने अपनी आज़ादी क़ायम रखने के लिए ही—वलवान आक्रमणकारी मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात न कर सके, इस उद्देश्य से समाज या राज्य की कल्पना की थी। अधिकारों की कल्पना संगठित समाज के विना हो ही नहीं सकती समाज में रहकर ही अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं और समाज के लिए कुछ वन्धनों का होना ज़रूरी है। मतलव यह कि अधिकारों की रक्षा के लिए वन्धन लाज़मी है। जव कोई संगठन न हो, तव जान-माल का ठिकाना भी नहीं रहता। और इस हालत में कौन स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है? उस समय

यदि किसी बात की आज़ादी है तो मारने की और मरने की। ऐसी हालत में किसी उद्देश्य के अनुसार कार्य करना संभव नहीं होता। जब लोगों की मनमानी चलने लगती है, तब क्या लोगों की स्वतन्त्रता किसी भी रूप में बची रह सकती है? भीष्म पितामह शान्तिपर्व में कहते हैं: "राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम्?" सरकार ही न हो तो हमारे परिवार और धन की रक्षा की गारन्टी नहीं हो सकती।

राज्य या समाज का कोई संगठन मनुष्य पर कुछ बंधन लगाता है। लेकिन जब यही बन्धन इतने अधिक अनिश्चित और असीमित हो जावें कि मनुष्य की आज़ादी कुचली जाने लगे, तब इन बन्धनों पर और इनके केन्द्रीभूत राज्य पर भी कुछ नियन्त्रण ज़रूरी हो जाता है। इस नियन्त्रण का उद्देश्य है मनुष्य की उस आज़ादी की रक्षा करना, जिससे वह अपने नैतिक विकास की ओर से निश्चिन्त होकर प्रगति कर सके। मनुष्य पर राज्य का बन्धन मनुष्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए और राज्य पर मनुष्य का नियन्त्रण या बंधन राज्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए लगाया जाता है। पहले प्रकार के बन्धन मनुष्य के कर्तव्य हैं और दूसरे प्रकार के बन्धन मनुष्य के अधिकार हैं। इन्हीं अधिकारों के लिए वह राज्य से पिछली सदियों में लगातार युद्ध करता रहा है। ये अधिकार थोड़े में इस प्रकार हैं:—

१. **शारीरिक स्वतन्त्रता**—मनुष्य को जिन्दा रहने का पूरा अधिकार है। वह राज्य से यह आशा करता है कि वह उस के जीवन की रक्षा करेगा। उसे न कोई व्यक्ति नष्ट कर सके और न राज्य ही उस पर बिला वजह हावी हो सके या कष्ट दे सके।

२. **मानसिक स्वतन्त्रता**—मनुष्य को अपने स्वतन्त्र विचार रखने, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म की

रक्षा का पूरा हक़ हो। हर मनुष्य को अपने विचारों के लिए बोलने और लिखने की और उनका प्रचार करने की भी पूरी आजादी हो, जबतक कि उससे किसी दूसरे का नुक़सान न होता हो (क्योंकि राज्य का यह भी तो कर्तव्य है कि वह एक के अन्याय से दूसरे को बचावे)।

३. राजनैतिक स्वतन्त्रता—देश के शासन में भाग लेने का प्रत्येक मनुष्य को अधिकार होना चाहिए राज्य सभी मनुष्यों के हित के लिए है, इसलिए उसमें सभी का हिस्सा होना चाहिए। हरेक नागरिक को वोट देने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक नागरिक की राज्य में एक हैसियत होनी चाहिए। अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-दलित सबको बिना धार्मिक भेदभाव के एक समान अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। राज्य से सब एक समान लाभ उठा सकें।

४. राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—प्रत्येक देश आज़ाद हो। जहाँ सरकार ही विदेशी हो, वहाँ रिआया को क्या अधिकार होंगे? और वह राज्य भी वहाँ की रिआया का कहाँ तक फायदा कर सकता है?

यह पत्र बहुत लम्बा होगया. इतना लिखने की इच्छा तो न थी; पर जब लिखने हो बैठा, तो लिख गया।

: ३ :

प्राण-रक्षा का मेरा अधिकार

२३-५-३८

मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए ही समाज या राज्य की कल्पना की थी। उसमें उसका उद्देश्य यही था कि मनुष्य के अधिकारों पर बलवान आक्रमणकारी क़ब्ज़ा न कर सकें। समाज शब्द ही बहुत-से आदमियों की केन्द्रीय शक्ति के भाव को जाहिर करता है। समाज में रहने वाले व्यक्ति—एक दूसरे की स्वार्थ प्रवृत्ति से—मनुष्य की प्रकृति के अन्दर जो पशुत्व छिपा हुआ है, उससे अपनी रक्षा करने के लिए ही अपनी शक्ति के कुछ भाग को एक स्थान पर इकट्ठा कर देते हैं। यही शक्ति सत्ता कहलाती है। राज्य भी इसी सत्ता का ज़बरदस्त उदाहरण है। इसका मतलब यह है कि सरकार महज राज्य करने की ख़ातिर राज्य नहीं करती, लेकिन वह राज्य के अन्दर रहने वालों की प्रसन्नता के लिए ही राज्य करती है। इसलिए अच्छे राज्य की कसौटी ही यह है कि जिस राज्य में मनुष्य को ज्यादा-से-ज्यादा स्वतन्त्रता मिली हो—मनुष्य ज्यादा से ज्यादा सुखी हो, वही उत्तम राज्य है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि उच्छृंखलता और स्वतन्त्रता का अर्थ एक नहीं है, ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी शब्द हैं। उच्छृंखलता में एक अत्याचारी मनुष्य की आज़ादी भले ही कुछ समय के लिए क़ायम रह सकती है; लेकिन आम लोगों के लिए तो वह भीषण बंधन की ही हालत होगी;

क्योंकि ऐसे समय में उसकी अपनी आज़ादी हमेशा ख़तरे में रहती है।

मनुष्य अपनी जिन-जिन स्वतन्त्रताओं की इच्छा करता है, उनमें सबसे पहली अपने जीने का अधिकार है। उसे अपने जीवन के बारे में पूरी बेफ़िक्री होनी चाहिए। मानवजीवन भगवान की अनुपम देन है। वह ऐसी चीज़ नहीं कि उसे कोई यों ही छीन ले। इसलिए यदि हरेक नागरिक सारे या राष्ट्र से यह आशा करे कि वह उसके शरीर की पूरी तौर से रक्षा करेगा, तो यह न केवल उचित और स्वाभाविक ही है, बल्कि ज़रूरी भी है। जैसा कि मैं पीछे लिख आया हूँ, मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता क़ायम रखने और अत्याचारी मनुष्य या हिंसक पशु से अपनी रक्षा करने के लिए ही अपनी शक्ति का कुछ अन्श समाज में केन्द्रित किया है। समाज का सदस्य बनकर उसने अपने ऊपर जो एक बन्धन लगाया है या सकाज की रक्षा के लिए जो त्याग वह करता है, उसका उसे इतना तो बदला मिलना ही चाहिए कि वह अपनी जान-माल की चिन्ता से मुक्त हो। राष्ट्र या समाज ने मनुष्य को अगर उसकी शरीर-रक्षा का भी आश्वासन न दिया, तो मनुष्य को उससे लाभ ही क्या ? वह फिर उसकी चिन्ता क्यों करेगा ?

इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने सदस्य की जान की हिफाज़त के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे। पुलिस की भी इसीलिए आवश्यकता है कि वह अत्याचारी मनुष्य और हिंसक पशु से प्रजा की रक्षा करे। जिस राज्य में पुलिस की व्यवस्था अच्छी होती है, उसमें प्रजा अपने जान-माल को सुरक्षित समझती है और निश्चिन्त होकर अपनी

उन्नति करती रहती है। जहाँ मनुष्य को अपने जीवन का भरोसा ही न हो वहाँ वह उन्नति क्या करेगा ? इक्के-दुक्के आक्रमण-कारियों के हाथों से रक्षा करने में पुलिस समर्थ हो जाती है, लेकिन जब आक्रमणकारी भी कोई समूह या विदेशी देश हो, तो उससे रक्षा करने के लिए सेना की ज़रूरत होती है। परन्तु केवल पुलिस या सेना की व्यवस्था से ही शरीर-रक्षा की गारंटी नहीं हो जाती। बहुत-सी जगहों और मौकों पर पुलिस की मदद लेना बड़ा कठिन हो जाता है। कहीं अकेले-दुकेले जाते हुए या रात को घर में चोर-डाकुओं से सामना हो जाने की हालत में तुरन्त ही पुलिस को बुलाना सम्भव नहीं होता। इस लिए हरेक नागरिक को सभ्य राष्ट्रों में यह अधिकार होता है कि ज़रूरत पड़ने पर वह खुद सामना करने वाले पर वार करके अपनी आत्म-रक्षा करे। केवल आत्म रक्षा ही नहीं, अपने सगे-सम्बन्धियों, लड़के, स्त्री, मां-बाप, भाई-बन्धु की रक्षा के लिए भी हथियार उठाने का अधिकार होना चाहिए। यह कोई निश्चित नहीं होता कि फलां वक्त ही कोई विपत्ति आवेगी। इसलिये नागरिकों को हमेशा हथियार रखने की इजाज़त होनी चाहिये। क़ानून में भी ऐसी गुंजायश होनी चाहिये कि हमला करने वाले पर अपनी हिफ़ाजत के लिये हथियार उठाने का अधिकार हो। अक्सर सब देशों में स्त्रियों को यह अधिकार होता है कि यदि कोई आक्रमणकारी उनके सतीत्व पर हमला करने लगे, तो वे अपने सतीत्व की रक्षा के लिये उसकी जान तक ले सकती हैं। लेकिन यह हमेशा याद रखना चाहिये कि आत्मरक्षा के लिये हथियार चलाने में भी एक मर्यादा तो रखनीही पड़ेगी। एक ज़रा-सी मारपीट होने पर भी लोग एक दूसरे की जान लेने लगें, तो इससे बड़ी अव्यवस्था फैल जायगी। आत्मरक्षा का अधिकार जितना महत्वपूर्ण है, उतनी ही महत्वपूर्ण यह मर्यादा भी है।

मनुष्य का जीवन बहुमूल्य है, इस सिद्धान्त को दोनों हालतों में—अपने पर हमले के समय भी और दूसरे पर हमला करते समय भी याद रखना चाहिए।

सरकार का फ़र्ज सिर्फ अपने राज्य में ही प्रजा की शरीर-रक्षा की व्यवस्था कर देने भर से पूरा नहीं हो जाता। उसका तो यह कर्तव्य है कि वह हमेशा इस बात की चौकसी करते रहे कि किसी दूसरे देश में भी अपने नागरिकों पर कोई अनुचित दबाव न डाला जाय। सभ्य, उन्नत और जिम्मेदार सरकारें इस बात का हमेशा ख़याल रखती हैं कि विदेशों में भी उनकी प्रजा पर कोई बिना वजह के आक्रमण न करे। यदि अपने किसी नागरिक की हत्या दूसरे देश में हो जाय, तो सरकार दूसरे देश की सरकार से इसका जवाब माँगती है और ठीक वजह न मिलने पर उसका मुआवजा मांगती है लेकिन आजाद ऊँचे उठे हुए और शक्तिशाली राष्ट्र ही ऐसा करते हैं। हिन्दुस्तान जैसे गुलाम देशों की सरकार में न तो अपनी जिम्मेदारी समझने की इच्छा है और न शक्ति। हम हिन्दुस्तानियों का विदेशों में कितना अपमान होता है, यह तुमसे छिपा नहीं है। इसका कारण हमारे देश की गुलामी है न कि दूसरी सरकारों की उपेक्षा। बलवान का सभी आदर करते हैं। गुलाम कमज़ोर हिन्दुस्तानी की कौन चिन्ता करेगा? जब ख़ुद हिन्दुस्तान में ही हमारे जान-माल की ख़ैर नहीं है तो विदेशी सरकारें क्यों इस बात की फिक्र करने लगीं? सीमाप्रान्त में कितनी स्त्रियाँ चुराई जाती हैं और कितने हिन्दुओं की हत्या हो जाती है, लेकिन सरकार ने कभी इतना बड़ा कदम नहीं उठाया जितना एक अङ्गरेज स्त्री मिस एलिस के चुराये जाने पर उठाया गया था। सिर्फ आक्रमणकारी मनुष्य से ही नहीं बल्कि हिंसक

पशुओं और बीमारियों से भी प्रजाकी रक्षा करना राज्य का खास कर्तव्य है। यहाँ तो इतनी बुरी हालत है कि किसान हिंस्र पशुओं से अपनी और अपनी खेती की रक्षा तक नहीं कर सकते। सूअर और रीछ आते हैं तथा गांव वालों को नुक्सान पहुंचा जाते हैं। वे कुछ नहीं कर सकते हैं। कई रियासतों में तो यदि खेती को नुक्सान पहुंचाने वाले पशुओं को कोई मारदे, तो उसे ही राज्य की ओर से सज़ा मिलती। कितनी भयंकर दशा है। इसका कारण यह है कि रियासती प्रजा अपने नागरिक अधिकारों को नहीं समझती और देसी राजा भी अपने कर्तव्य को नहीं पहचानते। प्रजा जब राजा को कर देती है, उसके बन्धन और नियम मानती है, क्या उसको यह आशा करना अनुचित होगा कि राज्य उसकी प्राण-रक्षा करेगा?

बाकी फिर दूसरे पत्र में।

: ४ :

मेरी शारीरिक स्वतंत्रता

१०-६-३८

आजकल यहाँ का मौसम बहुत ही खराब है। खसरा, मलेरिया, टाइफ़ाइड सभी बीमारियाँ एक-साथ फैली हुई हैं। हरिद्वार के कुम्भ के भारी मेले ने सारे देश में हैजे की भी बीमारी फैला दी है। दिल्ली भी हरिद्वार की इस देन से नहीं छूटा। हाल ही मेरे पड़ोस का एक तीन साल का बालक खसरे के साथ होने वाले निमोनिया से गुजर गया। हिन्दुस्तान में न जाने ऐसे कितने बच्चे हर साल ऐसी ही बीमारियों से अकाल मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं। आजकल एक भारतीय की औसत उम्र सिर्फ २३ साल है, जबकि १८८१ में यह औसत ३० साल थी और आजकल इङ्गलैंड में ५५ वर्ष है। इङ्गलैंड से हिंदुस्तान की मृत्यु-संख्या लगभग २॥ गुनी है। इङ्गलैंड में जहाँ मृत्यु संख्या ११.७ फी हजार है, वहां भारत में १६३० में २६.८ थी। हमारे यहाँ जीवनी शक्ति इतनी कम है कि १६१८ के काले बुखार में एक ही साल में एक करोड़ दस लाख आदमी चल बसे। बच्चों की मृत्यु संख्या का अनुपात २३२.६ फी हजार है और युक्तप्रान्त में तो ३०३ है। माताओं की मृत्यु संख्या सारे भारत में फी हजार २४.५ प्रतिशत है और अकेले बंगाल में ५० है। (इङ्गलैंड और वेल्स में माताओं की मृत्यु संख्या १६३२ में ४.०६ थी। बंगाल में १६२६-२७ में १ ,०००० मनुष्य हैजे से, ३५०००० मलेरिया से, ३५०००० क्षय से और १०००००

आतंडियों के बुखार से मर गये। औसत ५५००० नवजात शिशु हरसाल दौरे के शिकार होते हैं। भारत के चिकित्सा-विभाग के संचालक सर जान मेग ने कुछ साल पहले चौंकानेवाले आँकड़े प्रकाशित किये थे। उनके अनुसार लगभग १ करोड़ ३० लाख मनुष्य इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित हैं (अर्थात् फी २७ में से एक व्यक्ति भयङ्कर बीमारियों का शिकार है।) बीस लाख की संख्या क्षयरोग वालों के लिए थोड़ी है, और लगभग ६० लाख बिलकुल अन्धे हैं कम-से-कम ५ करोड़ हरसाल मलेरिया के शिकार होते हैं। यह संख्या आसानी से १० करोड़ तक लगाई जा सकती है।

कितने चौंकाने वाले आँकड़े हैं ये! यों सरसरी तौर से इन अङ्कों को पढ़ जाने से शायद इनकी भीषणता की कल्पना न हो, लेकिन किसी मरने वाले के पास खड़े होकर और उसकी दशा देखने के बाद इन अङ्कों की भयंकरता का अन्दाज़ हो सकता है। उस दिन अपने पड़ोसी के बालक को इस संसार से बिदा होते देखकर मेरे दिल में यही विचार उठने लगे।

लेकिन इसके साथ ही भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का वह प्रसंग भी याद आया जबकि एक ब्राह्मण के पुत्र की अकाल मृत्यु हो जाती है और रामचन्द्र उसकी मृत्यु के लिए अपने को जिम्मेदार ठहराते हैं।' कितना ऊँचा था प्राचीन आदर्श! उस समय न सिर्फ हिंसक पशुओं और आततायियों से, बल्कि बीमारियों से भी प्रजा की प्राण रक्षा करना राजा का कर्तव्य था। पिता की मृत्यु से पहले (बीमारी से) पुत्र की मृत्यु इस बात का प्रमाण मानी जाती थी कि राजा ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया।

१. "न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः संचरति इत्यात्मदोषं निरूपयति करूणामये रामभद्रे"

असल में नागरिकों का यह अधिकार है कि वे बीमारियों से अपने को निश्चिन्त समझें। जब मनुष्य समाज की रक्षा के लिए इतना त्याग करता है, तब समाजया राष्ट्र का भी फर्ज है कि वह मनुष्य की रक्षा की कोशिश करे। क्योंकि अगर प्रजा ही न बचेगी, तो समाज या देश का परिणाम क्या होगा? यदि बीमारियों ने प्रजा को निःशक्त और कमज़ोर कर दिया, तो कमज़ोर आदमियों का राष्ट्र कितना बलवान होगा? लेकिन ऊपर लिखे आँकड़े क्या सिद्ध करते हैं? यही कि हम अपने नागरिक अधिकारों से वंचित हैं और विदेशी सरकार भारत के स्वास्थ्य की ओर से बिल्कुल उदासीन है। शारीरिक स्वतन्त्रता के साथ ही मनुष्य को उसकी सम्पत्ति की रक्षा की भी गारंटी मिलनी चाहिये। ज़िंदा रहने के लिए भोजन सामग्री, कपड़े-लत्ते तथा मकान आदि की ज़रूरत हर किसी को होती है। नागरिक जो माल-मत्ता इकट्ठा करते हैं और मकान वगैरा बनाते हैं, उन सबकी चोर और डाकुओं से रक्षा करना सरकार का फर्ज है। अगर सम्पत्ति की रक्षा और कारोबार चलने की कोई गारंटी न दी जाय, तो संसार में धन कमाने की रुचि ही पैदा न होगी और इस कारण दुनिया की आर्थिक उन्नति रुक जायगी। हरेक मनुष्य को अगर विश्वास हो कि उसकी सम्पत्ति चोर-डाकू नहीं ले जावेंगे, तब वह बेफिक्र होकर अपने काम में लग सकता है और देश और राष्ट्र की उन्नति में अपना हिस्सा अदा कर सकता है। पुलिस और अदालत की व्यवस्था का एक उद्देश्य सम्पत्ति की रक्षा भी है।

लेकिन इकट्ठी की हुई सम्पत्ति का मतलब क्या? क्या हरेक मनुष्य द्वारा किसी भी तरीक़े से कमाई हुई सम्पत्ति की

रक्षा करना राज्य का फर्ज है ? एक डाकू डाका डालकर सम्पत्ति इकट्ठी करता है, तो राज्य क्या उस डाकू की सम्पत्ति की भी रक्षा की गारंटी देगा ? नहीं, क्योंकि वह उस डाकू की जीज नहीं है—वह तो उसकी है, जिसके पास से डाकू ने छीनी है। इसी तरह साम्यवादियों की विचारधारा के मुताबिक अतिरिक्त पूंजी भी एक सुसंगठित और सभ्य डाके का ही नतीजा है। एक ठेकेदार मजदूरों को जरूरत से भी बहुत कम पैसा देकर खुद धनी होता है तब क्या उसकी सम्पत्ति की गारंटी भी राज्य दे ? एक जमीदार किसानों पर तरह-तरह के अन्याय पूर्ण कर लगा कर अपना तो कोठार भर लेता है और सर्दी-गर्मी में दिन-रात एक करने वाला गरीब किसान एक वक्त रूखो-सूखी खाकर गुजारा करता है। ऐसे जमीदार की जायदाद की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है या नहीं ? इस सवाल पर भी तुमने सोचा ही होगा। बड़े बड़े समाज शास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। और उनमें इतना मतभेद है कि बहुत-से सम्प्रदाय बन गये हैं और प्रत्येक वाद के बारे में बहुत-सी किताबें लिखी गई हैं। एक वाद की राय है कि वह मनुष्य बहुत बड़ा पापी होगा, जिसने मनुष्य के इतिहास के शुरू में सबसे पहले किसी चीज पर अपना कब्जा करके 'ममेदम्' (यह मेरी है) की घोषणा की होगी। इस सम्प्रदाय का कहना है कि निजी मिलकियत का खयाल संसार की ज्यादातर बुराइयों की जड़ है। लेकिन दूसरा सम्प्रदाय भी उतने ही जोरों के साथ कहता है कि मिलकियत पर अपने-अपने अधिकार का ख्याल स्वाभाविक है; और इसी के कारण दुनिया जंगली सभ्यता से उन्नति करती-करती आज की स्थिति तक पहुंच गई है। इन दोनों सम्प्रदायों के बीच भी अनेक वाद हैं। कोई जमीन कल-कारखाने आदि उत्पादक सम्पत्ति पर

समाज का पूरा नियन्त्रण चाहता है, तो कोई सीमित नियन्त्रण। हरेक सम्प्रदाय इस सम्बन्ध में प्रजा के नागरिक अधिकारों की अलग-अलग व्याख्या करता है। मैं इस भूल भुलैया में अभी नहीं जाना चाहता। अगर समय मिला, तो इस बारे में किसी दूसरे पत्र में कुछ लिखने की कोशिश करूँगा। यहाँ तो इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि अपनी कमाई हुई सम्पत्ति की रक्षा की गारंटी सरकार उसे दे। जो वस्तु वह कमाता है, उसे इस बात की बेफिक्री होनी चाहिए कि वह वस्तु कोई छीन न सकेगा। लेकिन इस में एक शर्त है; वह यह है कि वह सम्पत्ति नाजायज़ तरीक़े से न कमाई गई हो, उसे कमाते हुए किसी दूसरे का ऐसा हक़ न छीना गया हो, जिसकी रक्षा की गारंटी प्रत्येक नागरिक को सरकार द्वारा मिलनी लाज़मी है। एक चोर चोरी से दूसरे की सम्पत्ति अपने अधिकार में कर लेता है। अगर राज्य चोर की इस सम्पत्ति की रक्षा करता है, तो वह उस व्यक्ति के अधिकार की अवहेलना करता है, जिसके घर चोरी हुई है। सरकार का पहला कर्तव्य चोर से नागरिक की रक्षा करना है। अनुचित और उचित साधनों की मर्यादा क्या है, यह प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी हालत पर निर्भर है। नागरिकशास्त्र की दृष्टि से तो इतना ही कहना काफ़ी है जिस राष्ट्र और जिस समय में उचित साधनों की जो मर्यादा स्वीकृत की जाती है, उसी का पालन राज्य को करना चाहिए। इस सम्बन्ध में गांधी-वाद की विचारधारा भी अध्ययन करने की वस्तु है, लेकिन उस का यह स्थान नहीं है। यदि संभव हुआ, तो आर्थिक स्वाधीनता पर विचार करते हुए उस पर भी अपने विचारों से तुम्हें सूचित करूँगा।

नागरिकों को व्यापार और लेनदेन की भी खुली छुट्टी होनी चाहिए। वे सब लेनदेन अपनी इच्छा से कर सकें। लेकिन शर्त यह है कि जायदाद का लेनदेन भी स्वतन्त्रतापूर्वक हो। शरीर ही नहीं. मन भी स्वतन्त्र होना चाहिए। स्वतन्त्रता के नाम पर धमकी या जालसाजी से किया गया लेन-देन उचित नहीं हो सकता। ऐसा लेन-देन करते समय शरीर तो अवश्य स्वतन्त्र है, परन्तु धमकी या जालसाजी के कारण मन परतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार यह भी ज़रूरी है कि किसी के मरने के बाद उसकी जायदाद उसके कानूनी वारिसों को मिले। पागलों और नाबालिग बालकों को लेन-देन की आज़ादी नहीं दी जा सकती, क्योंकि ये लोग अपना हित नहीं जानते। इन्हें कोई भी बहका सकता है।

मनुष्य को केवल जीने का अधिकार ही नहीं चाहिए, उसे शारीरिक स्वतन्त्रता—उसके शरीर पर किसी दूसरे का अधिकार न होना—भी उतनी ही ज़रूरी है। जब एक नागरिक का अपने शरीर पर ही अधिकार नहीं है, तो वह अपना स्वतन्त्र विकास कैसे कर सकेगा? शरीर की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि वह जो चाहे उचित काम कर सके, किसी की गुलामी उसे न करनी पड़े। प्राचीन काल में कोई किसी का दास न होता था, सब स्वतन्त्र थे। लेकिन ज्यों-ज्यों मनुष्य में अधिकार और शक्ति का मद आता गया, वह अपने से दुर्बल पर अपना कब्ज़ा करता गया हारे हुए को अपना गुलाम बनाने की प्रवृत्ति प्रायः सभी जातियों में पाई जाती है। मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व छिपा हुआ है वह सभी देशों में हमें दीखता है। और आश्चर्य तो यह है कि बड़े-बड़े विद्वानों और विचारकों के दिमाग से भी पशुत्व का यह अभिमान दूर नहीं हो सका है। ग्रीस के प्रसिद्ध विचारक

अरस्तू ने बड़ी गम्भीरता के साथ साबित करने का प्रयत्न किया है कि कुछ मनुष्य स्वभाव से स्वामी होते हैं और कुछ दास। परन्तु मनुष्य तो स्वभाव से एक मनुष्य है, उसे कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता और इसीलिए उसे गुलाम भी नहीं बनाया जा सकता। पुरुषों के शरीर, मस्तिष्क और मानसिक विकास में जो अन्तर होता है उससे यह तो जरूर मालूम होता है कि हरेक मनुष्य को अलग-अलग काम करने के लिए चाहिए, लेकिन किसी एक को दूसरे की गुलामी करनी चाहिए, यह तो किसी तरह भी साबित नहीं होता।

राजनीतिशास्त्र का तकाज़ा है कि हरेक नागरिक को पूरी शारीरिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वह जो चाहे काम करे, जो कमाये खाये इन सब बातों में सिर्फ इतना खयाल रखना होगा कि उसके किसी काम से समाज में न अव्यवस्था फैले और न उससे किसी दूसरे का नुकसान हो, क्योंकि इससे एक दूसरे नागरिक के अधिकार छिन जाते हैं। प्राचीन भारत में भी इस स्वार्थ को समझा जाता था, लेकिन उनकी दृष्टि केवल आर्यों तक सीमित थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में "न त्वार्यस्य दासभावः" कहकर किसी आर्य को दास बनाने का निषेध किया है। आज भी रियासतों में छोटी मानी जाने वाली जातियों को दास रखने की प्रथा मौजूद है। जर्मनी के हर हिटलर आजकल यहूदियों को नागरिकता के अधिकार देने से इन्कार कर रहे हैं। उनकी हलचलों पर तरह-तरह के बन्धन लगाये जा रहे हैं। असल में राज्य के प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह किसी जाति, किसी धर्म या लिंग (Sex) का हो, शारीरिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्त्रियों की समाज में क्या स्थिति हो, यह प्रश्न भी इसके साथ पैदा होता है। लेकिन यह प्रश्न खुद बड़ा और गम्भीर प्रश्न है,

इसके बारे में किसी दूसरे पत्र में लिखना ठीक होगा।

शारीरिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में एक और बात कहकर यह पत्र समाप्त कर दूंगा। मैं एक पिछले पत्र में बता चुका हूँ कि "ज्यों-ज्यों मनुष्य की स्वाधीनता की रक्षा के लिए ये नवीन साधन उत्पन्न होते गये, त्यों-त्यों मनुष्य के पैरों में अधिकाधिक गुलामी की जंजीरें पड़ने लगीं। जिस रोग के इलाज के लिए. धर्म सामाजिक व्यवस्था और राज्य आदि साधन बनाये गये, उसे हटाते-हटाते उन सबने एक नई बीमारी पैदा करदी।" असल में राज्य खुद भी मनुष्य की गुलामी की एक ख़ास वजह बन गया है। पुलिस और राज्य का कर्तव्य तो यह है कि वह मनुष्य की शारीरिक स्वतंत्रता की रक्षा करे, लेकिन वह स्वयं ही उसका ग्राहक बन गया है। इसका उदाहरण देखना हो तो आज से चार-पांच साल पहले हमारे यहां जो विलिंगडन राज था, जो आर्डिनेंसराज के नाम से भी प्रसिद्ध है, उसे देखो। अदालत में मुकदमा चलाकर अपराध साबित किये बिना सैंकड़ों लोग जेल में डाल दिये गये, सैंकड़ों लोगों का अपने घरों या मुहल्लों से निकलना बन्द करदिया गया; सैकड़ों की लिखने-बोलने की आज़ादी छीन ली गई। राजनीतिशास्त्र का यह पहला उसूल है कि किसी नागरिक को तबतक कोई सजा नहीं दी जा सकती, जबतक कि उस पर अदालत में अपराध साबित न हो जाय। खाली सन्देह में ही किसी को सजा नहीं दे देनी चाहिए। अदालत में भी मुकदमा लड़ने की पूरी सुविधा और न्याय की गारंटी उसे दी जानी चाहिए। यदि कोई हत्या का मुलजिम ग़रीबी के कारण अपना वकील करने में असमर्थ है तो राज्य का यह फ़र्ज़ होना चाहिए कि वह उसके लिए वकील की व्यवस्था करदे, ताकि सिर्फ पैसे के अभाव में वह अपने को निरपराध साबित करने से वंचित न रह जाय। यदि कभी

कोई सरकारी अफसर अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके नागरिकों की स्वतन्त्रता छीन ले तो उसपर साधारण अदालत में साधारण क़ायदे से मुकदमा चलाया जा सके। जुदे-जुदे देशों की जनता ने इस अधिकार की प्राप्ति के लिए काफ़ी लड़ाई लड़ी है। इंग्लैण्ड का 'हैबियस कार्पस एक्ट' इसका सबसे साफ़ उदाहरण है। मैग्ना-चार्टा (अधिकारपत्र की ३६ और ४० धारा के अनुसार कोई भी अंग्रेज़ नागरिक सरकार के किसी भी बड़े-से-बड़े अफ़सर द्वारा गिरफ्तार या दण्डित नहीं किया जा सकता, जबतक कि उस पर मुकदमा न चलाया गया हो और वह पूरी तरह साबित न होगया हो। यदि किसी नागरिक को बिना अपराध सिद्ध हुए गिरफ्तार कर लिया जाय, तो इङ्गलैण्ड के इस शासन-विधान के अनुसार उसके रिस्तेदारों को पूरा हक है कि उस पर मुकदमा चलाने का अनुरोध ऊँचे अफ़सरों से कर सकें। बिना किसी वारण्ट के कभी किसी को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और किसी को २४ घण्टे से ज्यादा पुलिस अपनी हवालात में नहीं रख सकती, जबतक कि अदालत से इजाज़त न ले ली जाय।

इन्हीं नियमों के कारण इङ्गलैण्ड आज सब देशों से अधिक स्वतन्त्र समझा जाता है। सभी देशों की सरकारों द्वारा सताये हुए लोग इसी कारण इङ्गलैण्ड की भूमि में अपने को स्वतन्त्र समझने लगते हैं। अगर अंग्रेज़ जनता अपने देश की इस विशेषता पर अभिमान करती है तो उसका यह अभिमान अनुचित नहीं है, लेकिन उसकी यह स्वातंत्र्य-प्रियता केवल इङ्गलैण्ड तक सीमित है। हमारे यहाँ भारत में ठीक इससे उलटा हो रहा है। यहाँ नागरिक स्वाधीनता तो नाम को भी नहीं। ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों और शासकों के राजनैतिक सिद्धान्त इङ्ग-

लैण्ड के लिए एक हैं और हिन्दुस्तान के लिए दूसरे। पर आज़ाद और गुलाम देश में यह फ़र्क स्वाभाविक है। इन्हीं अधिकारों की प्राप्ति के लिए तो भारत स्वराज्य का युद्ध लड़ रहा है।

पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में कुछ अपवाद भी है। सड़ी, गली या कड़वी चीज़ और पानी मिला दूध बाज़ार में बेचने की इजाज़त नहीं होनी चाहिए। चिकित्सा का हरेक को ही अधिकार नहीं दे देना चाहिए। "नीम हकीम खतरये जान। इसके लिए किसी योग्यता का हासिल कर लेना ज़रूरी होना चाहिए। पागल लोगों को सड़कों पर न जाने देना या फौजदारी करने वालों को पहले से ही पकड़ लेना भी उचित है। माँ-बाप यदि बच्चों का या पति-पत्नी का पालन-पोषण न करे तो उन्हें इसके लिए भी बाधित किया जा सकता है। इसी तरह और भी कई अपवाद बताये जा सकते हैं।

मेरी अपनी सरकार

१३–६–३८

तुम्हारा पत्र अभी मिला। पत्र पढ़कर खुशी हुई। तुम्हारी अनेक उलझनें पढ़कर मैं जरा भी चिन्तित नहीं हुआ। यह तो काम की शुरुआत है। इस संसार का मार्ग इतना सुगम नहीं है कि यात्री आँखें मूंदे उस पर से मजे में गुजर जाय। इसमें तो पद-पद पर समस्यायें हैं, अनेक कठिनाइयाँ हैं, कहीं नदी-नाले हैं तो कहीं छोटी-छोटी चट्टानें या पहाड़। इन सभी को पार करना ही होगा। तुम लिखते हो कि तुमने छोटी-सी पंचायत कायम की है। इसमें तुम्हें कई विघ्नों का सामना करना पड़ा है। इस प्रश्न पर ब्राह्मण व राजपूत एक ओर थे और हरिजन भाई दूसरी ओर ब्राह्मणों और राजपूतों का कहना है कि हरिजनों को पंचायत का सदस्य चुनने का अधिकार न हो। शेख और सैयद मुसलमान भी उनके साथ हैं। और तुम हरिजन भाइयों को उनका अधिकार देना चाहते हो। मैं पिछले दो पत्रों में नागरिक की शारीरिक स्वतंत्रता के बारे में तुमको लिख चुका हूँ। आज मैं चाहता तो था तुमको सामाजिक स्वतंत्रता पर कुछ लिखूँ. लेकिन तुम्हारा पत्र मिलने के बाद अब मैं मताधिकार के प्रश्न पर ही लिखना चाहता हूँ। इस समय यही बड़ा सवाल तुम्हारे सामने है। इस सवालको ठीक तरह समझने के लिए कुछ गहराई में जाना पड़ेगा।

मैज़िनी इटली का एक मशहूर विचारक होगया है। वह एक जगह लिखता है कि "जबतक तुम्हारे देश-बन्धुओं में से एक भी

ऐसा है, जिसका राष्ट्रीय जीवन की उन्नति के लिए अपना चुना हुआ प्रतिनिधि नहीं है, तबतक तुम्हारा देश सबका और सबके लिए नहीं है, जैसा कि वह होना चाहिए।

जब मनुष्य की उन्नति और विकास के लिए ही समाज या सरकार का संगठन हुआ है, तब उसकी नीति बनाने में भी उसका हाथ होना चाहिये। यदि ऐसा न हो, तो समाज या सरकार स्वतंत्रता की रक्षा में सहायक न होकर बाधक होजाताहै। ऐसा नियम या बन्धन, जो जनता की सलाह से उलटा हो या उसके हितों के प्रतिकूल हो, मनुष्य की अवनति का कारण बन जाता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् रूसो के कथनानुसार सरकार लोगों का परस्पर एक सामाजिक समझौता है। लोगों ने अपनी इच्छा से आपस में समझौता करके अपने अधिकार अपने कल्याण के लिए समाज को दे दिये हैं न कि राजा को। तमाम लोगों के दिये हुए अधिकारों का एकीकरण समाज के हाथ में होता है और फिर समाज अपनी सुविधा के लिए राजा अथवा अन्य अधिकारियों को नौकर रखकर उनके हाथों में सब अधिकार देता है। अर्थात् राजसत्ता या स्वामित्व जनता के हाथ में है न कि किसी व्यक्ति, श्रेणी या व्यक्ति-समूह में। जब यह बात मान ली गई, तब यह मानने में कोई संकोच नहीं रहता कि शासन में प्रत्येक नागरिक का अधिकार स्वाभाविक है। प्रो० हैराल्ड लास्की अपनी (An Introduction to Politics) पुस्तक[1] में सरकार और मनुष्य के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि नागरिक अपनी प्रसन्नता के लिए कुछ शर्तों के साथ अपने खास अधिकारों की

[1] लोकसाहित्यमाला में सस्ता साहित्य मण्डल से यह 'राजनीति प्रवेशिका' के नाम से प्रकाशित हो रही है। मूल्य ॥)

गारंटी के साथ सरकार का नियंत्रण स्वीकार करना चाहता है। मनुष्य तभी प्रसन्नता अनुभव कर सकता है, जब उसे अपनी व्यक्तिगत रक्षा का अधिकार हो. उसे रोजी कमाने के साधन प्राप्त हों, वह शिक्षा प्राप्त कर सके, उसके धर्म. भाषा आदि पर कोई रुकावट न हो. अपने ज्ञान और विचार के प्रयोग का अधिकार हो, अर्थात् अपने विचार लिख या बोलकर प्रकट करने में कोई बाधा न हो। इन अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद प्रो० लास्की लिखते हैं कि कोई सरकार इस उद्देश्यको तबतक प्राप्त नहीं कर सकती. जबतक वह बालिग-मताधिकार के अधिकार पर संगठित प्रजातन्त्र सरकार न हो, उस सरकार में न केवल भाषण और संगठन की स्वतन्त्रता जरूरी है; लेकिन यह भी उसमें स्वीकार कर लेना आवश्यक है कि जाति, धर्म, लिंग या सम्पत्ति नागरिक अधिकारों के उपभोग में कुछ भी बाधक न होगी। इतिहास का अनुभव हमें यह बताता है कि जब किसी वर्ग से अधिकार छीन लिया जाय, तब जल्दी या देर में वह अधिकार से प्राप्त होनेवाली सुविधाओं से भी वंचित हो जाता है। यह बहुत स्वाभाविक है कि सरकार जनता के जिस हिस्से से शक्ति प्राप्त करती है. उसी की आवश्यकताओं का ख़याल भी करेगी। इसलिए जितने बड़े भाग पर सरकार का संगठन निर्भर हो. उतनी ही अधिक यह उम्मीद की जा सकती है कि वह देश के बड़े भाग की इच्छाओं को पूरा करने का प्रयत्न करेगी।

अमेरिका के मृत पूर्व राष्ट्रपति प्रो० विल्सन कहते हैं कि "जिन शक्तियों से राष्ट्रीय और राजकीय विकास होता है ठीक उन्हीं से क़ायदों का निर्माण और विकास होता है।······एकतंत्र या प्रजातन्त्र दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियों में कायदे लोगों के रस्म-रिवाज या पसंदगी-नापसंदगी को देखकर बनेंगे। क़ानून

बनाने वालों का काम अपनी इच्छा से कायदों का आविष्कार करना नहीं है, उनका काम है लोगों की आवश्यकताओं को जान कर उन्हें कायदे का स्वरूप दे देना। क़ायदा व्यक्तियों की रचना नहीं है, वह है समाज की ख़ास-ख़ास आवश्यकताओं की, ख़ास-ख़ास मौकों की, विशिष्ट सङ्कटों या दुर्दैवों की।" अनियंत्रित निरंकुश शासकों के प्रजा पर जबरदस्ती लादे जाने वाले कायदों की ओर निर्देश करते हुए प्रो० विल्सन कहते हैं—"शासक अपने को समाज से अलग नहीं कर सकते। यह बात दूसरी है कि शासकों के कार्यों को समाज चुपचाप मान ले।...कभी-कभी कायदे का स्वरूप अल्प संख्यक लोगों या किसी एक व्यक्ति की आज्ञा ही जान पड़ता है, परन्तु जबतक समाज उस कायदे के पीछे अपना जोर न लगावेगा, तबतक वह चल नहीं सकता। कायदा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लोगों को सम्मत होना ही चाहिए और इस प्रकार उनका जोर भी उसे मिलना चाहिए।" इसका एक इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण भी आपने दिया है। जब तक रूस के जार की सत्ता थी, वह क़रीब-क़रीब अनियंत्रित दीख पड़ती थी। प्रो० विल्सन के मतानुसार उसकी भी नींव जनता ही थी। "जार की व्यक्तिगत शक्ति कोई भारी शक्ति नहीं थी। वह वहां के धर्म का सर्वोच्च अधिकारी था। वह राष्ट्र का और उसके इतिहास का और उसके विकास का पवित्र प्रतिनिधि था। उसकी शक्ति की जड़ें लोगों के मनों में भीतर घुसी हुई थीं।" जब वे जड़ें शिथिल होगईं, तो जारशाही का नामोनिशान न रहा। अपने विचार को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि "राष्ट्र की आदत ही कानून-निर्माता का असली मसाला है और उसकी वही मर्यादा है। वे खूब कड़ी और भयानक वस्तु हैं। यदि वह उनका तिरस्कार करेगा, तो वे अपना आदर कराने को जरूर जोर देंगी। और अगर वह उनपर किसी प्रकार जबरदस्ती (दमन)

करेगा, तो वे (बारूद गोलों के सहारे) भयङ्कर जोर से फूटेंगी और उसका सत्यानाश कर देंगी। राज्य-प्रभुता उसके हाथ में नहीं वह समाज के हाथ में है।···कायदे की दृष्टि से राज्य-प्रभुता का अस्तित्व है समाज की संकल्पशक्ति में, फिर वह चाहे चुपचाप रहे या जोर दिखलावे और राजकीय झगड़ों का क्षेत्र तैयार करदे, राजा या पार्लमेण्ट उसके केवल साधन हैं, वे कोई बात उसी की प्रेरणा से कहते हैं, वास्तव में राज्य-प्रभुता का निवास समाज में है।"

विल्सन के इस लम्बे उद्धरण के बाद जनता के शासन-अधिकार के सम्बन्ध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब्राहम लिंकन के "Government of the people, by the people for the sake of people" या "by all for all" के सिद्धान्त का भी यही अर्थ है।

हैराल्ड लास्की लिखते हैं कि " नियम या क़ानून केवल आज्ञा ही नहीं देते हैं। वे तो नागरिकों की इच्छाओं की पूर्ति के साधन हैं। सब नागरिक खुद या अपने प्रतिनिधियों द्वारा मिलकर इस बात का फैसला करते हैं कि उनकी इच्छाओं और जरूरतों को किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा पूरा किया जा सकता है। इच्छापूर्ति के ये साधन ही क़ानून हैं। नागरिक अपनी सामूहिक इच्छा से विरुद्ध नियम का पालन न करना चाहें तो उनपर कोई रोक नहीं लगा सकता। उनकी समझ ठीक हो या ग़लत, उन्हें अपनी समझ के अनुसार चलने का अधिकार है; तभी वह स्वतंत्र रह सकता है, दूसरे का नियन्त्रण मानना ही पराधीनता है।···· दूसरे शब्दों में क़ानून आज्ञा नहीं है, वह एक प्रार्थना है, जो नागरिक परस्पर मिलकर एक-दूसरे से करते हैं।"

जब राज्य की हद एक या दो तीन नगरों तक ही सीमित होती थी, तब प्रत्येक नागरिक का शासन-कार्य में भाग लेना मुमकिन था। ग्रीस के नगर-राज्यों में यही होता था। लेकिन जैसे-जैसे राज्य का दायरा फैलता गया, प्रत्येक व्यक्ति का उसमें भाग लेना मुश्किल होता गया। इसलिए प्रतिनिधितन्त्र का तरीका निकला। इसके अनुसार जनता एक नियत समय के लिए शासन-कार्य में भाग लेने का अधिकार अपने विश्वस्त प्रतिनिधियों को सौंप देती है। ये प्रतिनिधि असल में लोकमत के ही वाहन हैं और जब कभी इन प्रतिनिधियों ने सारी शासनसत्ता हाथ में लेने की कोशिश की, तभी जनता ने उन्हें गिरा दिया। प्रतिनिधियों के अधिकारों को नियंत्रित करने के भी अनेक प्रयत्न किये गये हैं। ब्रिटिश पार्लमेण्ट का चुनाव सात वर्ष से पांच वर्ष कर दिया गया, और अनेक देशों में तीन-तीन वर्ष के बाद चुनाव होता है। इस से जनता को अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपना मत प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता है और जो उम्मीदवार उनके विचार के अनुसार कार्य करने का वचन देता है, उसीको वे चुनते हैं। स्वीज़रलैण्ड आदि देशों में 'रेफ़रेण्डम', [1] 'इनीशियेटिव', [2]

---

१. रेफ़रेण्डम—अपने चुने हुए प्रतिनिधियों पर पूर्ण विश्वास न रखनेके कारण इस प्रथा को जन्म दिया गया है। इसके अनुसार प्रतिनिधि-सभा में पेश होनेवाले प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का मत जानना चाहिये। प्रतिनिधि-सभा के निर्णय पर जनमत की स्वीकृति आवश्यक है। इससे जनता के कंधों पर शासन की सीधी ज़िम्मे-दारी पड़ती है। राष्ट्र की समस्त जनता ही असेम्बली हो जाती है।

२. इनीशियेटिव—जनता या मतदाताओं का एक बड़ा भाग किसी प्रस्ताव पर दस्तखत कर के उसे नियम बनाने के लिए खुद पेश करता

'रिकाल'[1] और प्लीबिसाइट[2] की प्रथायें प्रतिनिधियों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण कायम करने और शासन में अपना भाग अधिकाधिक रखने के लिए आविष्कृत हुई हैं। इन सब पद्धतियों के अपने-अपने गुण और दोष हैं, लेकिन इतने विस्तृत और गम्भीर विवेचन की हमें ज़रूरत नहीं।

प्रतिनिधितन्त्र में जनता अपने मताधिकार द्वारा ही शासन व नीति बनाने में भाग ले सकती है और यह मताधिकार हरेक नागरिक को बिना किसी जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के मिलना चाहिए। यदि किसी श्रेणी या वर्ग को हम इससे वंचित रखते हैं तो उनके प्रतिनिधि न होने के कारण उनके हित की हानि हो सकती है। आजकल यद्यपि अनेक देशों में सब नागरिकों को वोट देने का हक मिला हुआ है, फिर भी बहुत-से देशों में यह हक सबको नहीं है। हमारे यहाँ ही तुम देखोगे कि प्रांतीय असेम्बलियों में प्रतिनिधि चुनने का अधिकार सब बालिग व्यक्तियों को नहीं है। यहाँ मताधिकार की योग्यता का मुख्य आधार अभीतक (नये १९३५ के शासनविधान के अनुसार भी) सम्पत्ति

है अगर बहुमत ने उस प्रस्ताव को स्विकार करलिया तो वह क़ानून बन जाता है।

१. रिकाल—एक निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं का विश्वास जब अपने प्रतिनिधि पर न रहे, तब वे उसे वापस बुला सकते हैं।

२. प्लीबिसाइट—सरकार की नीति का समर्थन या विरोध करने के लिए प्रत्येक नागरिक से मत लिया जाता है। अभी कुछ समय पहले हर हिटलर ने आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने पर जर्मनी और आस्ट्रिया के सारे निवासियों से जो मत लिया वह, प्लीबिसाइट ही था।

है; जैसे मालगुजारी देना लगान देना, इन्कमटैक्स देना और शहरों में मकानों का किराया (भाड़ा) देना। इनके अलावा शिक्षासम्बन्धी योग्यता के आधार पर भी मताधिकार दिया गया है, स्त्रियों और हरिजनों के सम्बन्ध में कुछ ढील की गई है। लेजिस्लेटिव कौंसिलों के चुनाव में तो मताधिकार की योग्यता बहुत ऊँची रक्खी गई है। असेम्बलियों और कौंसिलों में ही नहीं, म्यूनिसिपल कमेटियों और जिला बोर्डों तक में हमारे यहाँ सबको प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं दिया गया। यह बहुत बड़ी कमी है जिसे दूर करना बहुत जरूरी है। किसी नागरिक का पैसे की कमी की वजह से वोट देने का हक़ न देना कितना बड़ा अन्याय है। आजकल समाज का जिस प्रकार का दूषित आर्थिक संगठन है उसमें बहुत-से आदमियों का ग़रीब रहना स्वाभाविक है। केवल अमीर ही राष्ट्र की सेवा नहीं करता, ग़रीब भी तो राष्ट्र का अङ्ग है और कई प्रकार से—मिहनत आदि करके – राष्ट्र की सेवा करता है। आज भी सेना में जो लोग भरती होते हैं, उनमें से ज्यादातर ग़रीब होते हैं। अतः एक व्यक्ति को केवल ग़रीब होने की वजह से ही हम समाज का अङ्ग मानने से इन्कार नहीं कर सकते। समाज के हरेक अङ्ग को समाज के विकास में और खासकर अपने ऊपर लागू होने वाले क़ानूनों के बनाने का हक़ होना ही चाहिए, नहीं तो वे क़ानून उस पर जबरदस्ती लादे गये बंधन से कम न होंगे। किसीने ठीक ही कहा है कि हरेक बालिग व्यक्ति अपना हित समझने की योग्यता रखता है।

इसी तरह शिक्षा को भी मताधिकार की योग्यता नहीं बनाया जा सकता। शिक्षा को योग्यता बनाने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी दलील यह दी जा सकती है कि अनपढ़ आदमी देश की सम-

स्याओं को नहीं समझ सकते और न अपने मताधिकार का उपयोग ही ठीक कर सकते हैं। लेकिन यह भ्रम है। किसीको पांचवीं या आठवीं जमात तक पढ़ लेने भर से राजनैतिक ज्ञान नहीं आ जाता। तुम अपने ही गांव में देखोगे कि बहुत-से बूढ़े ग्रामवासी निरक्षर भले ही हों लेकिन वे मूर्ख नहीं हैं। बातचीत में और पंचायतों में उनकी समझदारी और बुद्धिमत्ता का अच्छा परिचय मिलता है। हमारे गाँवों की स्त्रियाँ भी निरक्षर भले ही हों लेकिन सैकड़ों सालों से आनेवाली प्रथाओं और रामायण, महाभारत आदि की बीसियों ज्ञानभरी कहानियों के सुनने से उन्हें धर्म, कर्म और अपने व्यवहार का विशेष ज्ञान होता है। अनपढ़ लोगों की पंचायतों के फैसले अक्सर अदालती फ़ैसलों से कहीं ज्यादा ठीक होते हैं। फिर एक बात और। चुनाव के कारण वोट देने वालों को राजनैतिक शिक्षा बहुत आसानी से प्राप्त हो जाती है। चुनाव में खड़ी होने वाली राजनैतिक पार्टियाँ मतदाताओं को अपने-अपने विचारों और सिद्धान्तों की खूब अच्छी शिक्षा देती हैं।

मताधिकार का प्रश्न राजनीतिशास्त्र में बहुत ज्यादा महत्व रखता है। इस पर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है और कुछ ख़ास सवालों पर तो, जिनका ज़िक्र इस पत्र में नहीं कर पाया, मैं खासतौर से लिखना चाहता हूँ। लेकिन अब आज यहीं तक। बाक़ी अगली चिट्ठी में।

: ६ :

मताधिकार

१५-६-३८

प्रजा अपने देश के शासन में भाग ले सके, इसका सबसे सरल और चालू तरीक़ा यह है कि उसे क़ानून बनाने और शासन करने वाली सभा के सदस्यों का चुनाव करने—वोट देने का हक़ हासिल हो। पिछले पत्र में मैं बता चुका हूँ कि वोट देने के लिए किसी नागरिक पर सम्पत्ति या शिक्षा की क़ैद नहीं लगानी चाहिए। इसी सवाल पर आज कुछ और विचार करने की इच्छा है।

बहुत-से देशों में सब जातियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। इतिहास इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है। अछूतों, विधर्मियों और पराजितों को ज्यादातर देशों में शासन में भाग लेने का अधिकार हासिल न था; पर जब हमने यह मान लिया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने देश का एक अङ्ग है तो उसे समान अधिकार भी मिलना ही चाहिए। छोटी-छोटी जातियाँ, धर्म या श्रेणियाँ भी नागरिक-अधिकारों से वंचित क्यों रक्खी जायँ? उन्हें भी मानव समाज का एक सदस्य होने की हैसियत से सरकार या समाज के सब लाभ उठाने का अधिकार है। उनकी संस्कृति, उनकी भाषा, उनके रीति-रिवाज और धर्म आदि की रक्षा तभी हो सकती है, जब हम उन्हें भी बराबरी का दर्जा देकर उन्हें वोट देने का अधि-कार दें। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का एक मुख्य सिद्धान्त है

(No taxation without representation) जबतक शासन में प्रतिनिधित्व न हो, तबतक सरकार को भी टैक्स नहीं देना चाहिए। मनुष्य को स्वतन्त्र मान लेने पर हम किसी को बाधित नहीं कर सकते, लेकिन जब वह समझौते के क्षेत्र में आजाता है. राज्य से होने वाली सुविधायें प्राप्त करता है, तब उसके बन्धनों को भी मानता है; और जब बन्धन मानता है, तब अपने लिए सुविधायें भी ज़रूर चाहेगा। इसीलिए राष्ट्र के छोटे-से-छोटे अङ्ग को भी अपने अधिकार से वंचित नहीं रख सकते । शासन में भाग न होते हुए भी टैक्स देने का अर्थ है गुलामी। अल्प-संख्यक जातियों की समस्या का भी यही हल है। उन्हें भी राज्य-शासन में भाग लेने का पूरा मौक़ा मिलना चाहिए। बहुमत अल्पमत को दबा न ले. इसका भी प्रायः प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में ध्यान रक्खा जाता है। अल्पमत वाली जातियों को कुछ विशेष गारण्टी दी जाती है। बेलजियम जर्मनी फ्रांस, आस्ट्रिया,१ पोलैण्ड, युगो-स्लाविया, चेकोस्लेवाकिया आदि में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रथा प्रचलित है। राष्ट्रसंघ ने भी इसके बारे में कुछ नियम बनाये हैं। हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी अल्पसंख्यक जातियों के कुछ मौलिक अधिकार स्वीकृत कर उन्हें गारण्टी दी है कि उनके नागरिक अधिकारों पर कुठाराघात नहीं किया जायगा। राष्ट्रसंघ व कांग्रेस के प्रस्ताव इस पत्र के साथ अलग से देता हूँ। (देखो परिशिष्ट)

स्त्रियों को मताधिकार मिलना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न भले ही आज विवादकोटि से बाहर निकल गया हो, लेकिन कुछ वर्ष

---

१. अब तो आस्ट्रिया का अस्तित्व ही नहीं रहा वह हर हिटलर की कूटनीति और अन्य यूरोपियन राष्ट्रों की नपुंसकता से जर्मनी में मिला लिया गया है।

पहले यह बात न थी। यह बड़ा विवादास्पद प्रश्न था। स्त्रियों ने अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े संघर्ष किये। इङ्गलैंड में तो उन्होंने बड़े-बड़े प्रदर्शन किये, पार्लमेण्ट की खिड़कियों के शीशे आदि तक तोड़ डाले। बड़ी लम्बी जद्दोजहद के बाद उन्हें १६१८ में यह मताधिकार मिला, यद्यपि नार्वे, डेनमार्क और हालेण्ड में स्त्रियों को यह अधिकार पहले से प्राप्त था आश्चर्य की बात यह है कि इङ्गलैंड में स्त्रियाँ राजगद्दी पर बैठ सकती थीं, लेकिन फिर भी उन्हें मताधिकार देने की बात अंग्रेज़ों की समझ में बहुत समय बाद आई। फ्रांस की क्रांतिकारिणी नेशनल असेम्बली ने भी १७८६ ई० में स्त्रियों के प्रार्थनापत्र को अस्वीकृत कर दिया था। पर अब ज़माना बदल गया है। अमेरिका ने १६१६ में स्त्रियों को यह अधिकार दिया। युद्ध के बाद तो प्रायः सभी देशों में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी यह अधिकार मिल चुका है।

प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान् जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्त्रियों के राजनैतिक और नागरिक अधिकारों के लिए खूब प्रचार किया है। मिल की युक्तियों का सारांश यह था कि अच्छे शासन की ज़रूरत पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी है। जब स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार है जब वे टैक्स अदा करती हैं, जब वे सरकार तक चला सकती हैं, तब वे सिर्फ मताधिकार ही क्यों नहीं प्राप्त कर सकतीं? सरकार में स्त्रियों का भाग न होने का परिणाम यह हुआ कि पुरुष-समाज स्त्रियों के हित को भूलकर सदा ऐसे ही क़ानून बनाता रहा है, जो पुरुषों के अनुकूल हों। यह सच भी है। तुम स्वयं देखोगे कि हमारे प्राचीन पुरुष स्मृतिकारों तक ने स्त्रियों के अधिकारों की बड़ी उपेक्षा की है। पतिव्रत धर्म का उपदेश देने में ही स्मृतिकारों ने अपनी सारी ताक़त खर्च करदी है,

लेकिन पत्नीव्रत का उपदेश कहीं नहीं मिलता। पुरुषों को बहु-विवाह का पूर्ण अधिकार दिया गया है, जबकि एक बाल-विधवा को उमर-भर विधवा रहने पर विवश होना पड़ता है। हिन्दू क़ानून में स्त्री को विरासत तक का अधिकार प्राप्त नहीं। इस्लाम में भी स्त्रियों की बहुत बुरी दशा है और यही हालत यूरोप में भी थी। वहाँ भी पत्नी के शरीर पर पति का अधिकार था। यह सब इसलिये संभव हो सका कि क़ानून का निर्माण और शासन पुरुष जाति के हाथ में था। लेकिन आज यह स्थिति नहीं है। आज की नारी बहुत आगे बढ़ गई है। अब वह राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, संसार के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य का मुक़ाबला करने लगी है। भारत के भी बड़े-बड़े शहरों में तुम यह अपनी आँखों से देख चुके होगे।

लेकिन इसके साथ ही एक नया प्रश्न पैदा होता है, कि आखिर नारी के अधिकार क्या हों? उसका कर्त्तव्यक्षेत्र क्या है? मेरी अपनी राय यह है कि उसे अधिकार तो पुरुषों के से ही मिलने चाहिए। वह भी उसी परमात्मा की सृष्टि है। संसार की सभ्यता के इतिहास में—पुरुष के निर्माण में, राष्ट्रों के उत्थान और पतन में, नारी का भी वही भाग है जो पुरुष का है। स्त्री पुरुष मिलकर एक पूर्ण व्यक्ति बनते हैं। पुरानी कहावत के अनुसार स्त्री और पुरुष एक गाड़ी के दो पहिये हैं। इसमें से किसी एक की अपेक्षा नहीं की जा सकती। दोनों को जीवन का, अपने अधिकारों की रक्षा का, समान अधिकार है। लेकिन अधिकारों की समानता का अर्थ कर्तव्य-क्षेत्र की एकता नहीं है, तुम भले ही मुझे अनुदार या पुराणपन्थी समझो, लेकिन मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि स्त्री और पुरुष की शरीर-रचना में भेद करके परमात्मा ने ही दोनों के कार्यक्षेत्र जुदे-जुदे बना

दिये हैं। आज की नारी इसे भूल गई है। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता लैकी की राय बड़ी ही महत्वपूर्ण है। वह कहता है कि "यूराप की स्त्रियों ने अपनी सभ्यता में चाहे कितनी ही उन्नति की हो, पर उनकी वह उन्नति हमेशा पुरुषोचित रही है। स्त्रियोचित गुणों का—प्रेम, विश्वास, लज्जा, दया, सहानुभूति आदि का—पूर्ण विकास यहां की सभ्यता में नहीं हुआ है। इस कारण हम उस समय का सबसे ज्यादा स्वागत करेंगे, जब यहाँ की स्त्रियां स्त्रियोचित गुणों में पूर्ण विकास करके आज़ादी हासिल करेंगी। ... यूरोप को अब पौरुषेय सभ्यता की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। वह युद्ध, राजनैतिक घात-प्रतिघात और संकीर्ण जातीयता से बहुत घबरा गया है। अब वह पूर्ण शक्ति, जो केवल स्त्रियोचित गुणों के विकास से ही प्राप्त होसकती है, चाहता है।"

देश समाज के सभी अंगों के शासन में भाग लेने का एक बड़ा भारी परिणाम यह होता है कि सभी में राष्ट्रीय या सामाजिक संगठन के प्रति अपनापन पैदा होजाता है। सब सरकार के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझते हैं और उसका काम ठीक तरह से चलाने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सहयोग देते हैं। हिन्दुस्तान में मताधिकार की योग्यता बहुत ऊँची रक्खी गई है। इस कारण बहुत कम लोग देश के शासन में भाग ले सकते हैं। प्रान्तीय असेम्बलियों में मतदाताओं का अनुपात १५ फ़ी सदी है। म्यूनिसिपल कमेटियों और ज़िला बोर्डों तक में सामाजिक योग्यता को आधार माना गया है। दिल्ली म्यूनिसिपल कमेटी में ३६। रु० सालाना से कम किराया देने वाला वोट देने का हक़दार नहीं हो सकता। कितना अंधेर है! अपने नगर तक के इन्तज़ाम में लाखों दिल्ली-निवासियों का कोई हाथ नहीं।

वालिग-मताधिकार के सिलसिले में तुम एक सवाल करसकते हो, कि क्या इसका दुरुपयोग नहीं हो सकता ? हाँ, क्यों नहीं ? आजकल के जो चुनाव हो रहे हैं, उनकी असलियत से तुम भी अपरिचित नहीं हो। पार्टीबन्दी, झूठे प्रचार और रुपये के ज़ोर से चुनाव के परिणाम तक बदले जा सकते हैं। १६२५ में इङ्गलैंड के अनुदारदल ने जिनोवीफ़ का झूठा पत्र १ छापकर ही मजदूर दल को हराया था। स्थानीय म्यूनिसिपल चुनावों में रुपये के ज़ोर से कितने नालायक और स्वार्थी आदमी हमारे 'नगरपिता' बन जाते हैं, यह भी तुमसे छिपा नहीं है। तुम कह सकते हो कि यह वालिग-मताधिकार का परिणाम है। नहीं. ये सब बातें वहाँ होती हैं, जहाँ जनता नागरिक अधिकारों के साथ-साथ नागरिक कर्तव्यों की चिन्ता नहीं करती।

सभी जगहों और सभी मौकों पर प्रजातन्त्र का—जनता का प्रबन्ध आदि में भाग लेने का सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। कुछ ऐसे नाजुक मौक़े आते हैं, जब प्रजातन्त्र या वालिग मताधिकार ताक पर रख देना पड़ता है, युद्ध के समान सेना की सारी बागडोर प्रधान सेनापति के हाथ में सौंप देनी पड़ती है। वहाँ अलग-अलग सैनिक की सलाह लेना खतरनाक होता है। इटली, जर्मनी, टर्की आदि देशों में वहाँ के तानाशाहों ने ही सारे अधिकार अपने हाथों में लेकर अपने-अपने देशों को कहीं-से-कहीं पहुंचा दिया। हमारी काँग्रेस ने भी १६३० और १६३२ में

१. अनुदार पार्टी ने प्रसिद्ध रूसी अधिकारी जिनोवीफ़ का ब्रिटेन-स्थित रूसियों के नाम इस आशय का एक कल्पित पत्र प्रकाशित किया था कि आप रूसियों को शाबास है कि ब्रिटेन की मजदूरपार्टी के साथ मिलकर ब्रिटेन में राजतन्त्र की समाप्ति और सोवियट की स्थापना के षड्यन्त्र में लगे हो। इसका प्रभाव यह हुआ कि मजदूर दल हार गया।

सत्याग्रह-संग्राम में डिक्टेटरशिप की प्रथा को मंजूर किया था और इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रों की सफलता का श्रेय इस डिक्टेटरशिप को भी दिया जाना चाहिए।

पर ये सब अपवाद हैं। इनसे यह साबित नहीं होता कि नागरिकों का अपने गांव, नगर या देश के शासन में कोई भाग नहीं है या उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नष्ट होगयाहै। हाँ. नाबालिग, पागल और विदेशी लोगों को यह अधिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि जहां नाबालिग और पागल देश की समस्या नहीं समझ सकते, वहाँ विदेशी कभी देश के हित और अपने हित को एक नही कर सकते। उनकी दृष्टि अपने देश के हित पर ही जायगी। उनके सम्बन्ध में जुदे-जुदे देशों में जुदे-जुदे नियम हैं। रूस और टर्की में १८ साल की उम्र में मताधिकार है तो जर्मनी और स्वीजरलैण्ड में २०, अमेरिका व ब्रिटेन में २१, नार्वे में २३ और डैनमार्क व जापान में २५ साल की उम्र में यह अधिकार प्राप्त है।

मताधिकार की तह में एक असूल काम करता है और वह यह कि जनता अपना शासन स्वयं कर सके। प्रजातन्त्र या प्रतिनिधितन्त्र में ये चार बातें दीखती हैं— (१) कानून बनाने में प्रतिनिधियों की सम्मति ली जाती है; (२) उनकी सम्मति के बिना कर के रूप में एक भी पाई न वसूल की जाती है और न खर्च की जाती है; (३) राज्य-प्रबन्ध करने वाले मंत्री भी इन्हीं में से चुने जाते हैं और (४) प्रतिनिधि समय-समय पर सरकार के कामों की आलोचना करते हैं। मताधिकार इन्हीं बातों का एक लक्षण मात्र है। शासन के सभी विभागों में जनता का खुलाप्रवेश होना चाहिए, सरकारी नौकरियों के पद सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी वर्णों के लोगों के लिए बिना किसी भेदभाव के खुले रहने चाहिए, जिन्हें परीक्षा या किसी अन्य कसौटी द्वारा अपनी

योग्यता सिद्ध करके वे प्राप्त कर सकें। भारत में बहुत-से पद गोरे लोगों के लिए सुरक्षित हैं। यह नागरिक अधिकारों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। बहुत-से पदों पर हरिजनों, मुसलमानों या हिन्दुओं को उनकी जाति या धर्म के नाते रक्खा जाता है न कि योग्यता के आधार पर। यह ठीक नहीं है, साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधि सभाओं की जगहों या नौकरियों का बँटवारा बहुत अराष्ट्रीय और नुक्सानदेह है। इसकी सबसे बड़ी हानि यह है कि देश में अपने-अपने सम्प्रदाय और जाति के हितको देश के हित से ऊपर समझने की खतरनाक प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

मत लेने के सम्बन्ध में एक बात और। मत हमेशा गुप्त रीति से लेने चाहिएँ। कोई उम्मीदवार किसी पर कोई नाजायज़ दबाव न डाल सके, इसका सबसे बढ़िया तरीक़ा पर्चियों द्वारा अकेले कमरे में वोट लेना है, जहां किसी को मालूम न हो कि वोट किसे दिया गया है। अनुचित दबाव के कारण दिया गया वोट कोई अर्थ ही नहीं रखता, क्योंकि इससे मताधिकार का प्रयोजन पूरा नहीं होता। मतदाताओं को यह निश्चय रहना चाहिए कि उनके अपनी मरजी के मुताबिक़ वोट देने से कोई ज़मींदार, मिलमालिक, सरकारी अफ़सर या कोई प्रभावशाली मनुष्य उन्हें सता न सकेगा।

मेरा यह पत्र आज काफ़ी लम्बा होगया. इसलिए इसे अब यहीं खतम करता हूँ। मैं जो कहना चाहता था, शायद सभी लिख दिया है। यह ठीक है कि इसमें अनेक ऐसे विवादास्पद विषय आ गये हैं, जिन पर विस्तार से विचार करने की ज़रूरत है; लेकिन नागरिक शास्त्र से उनका जितना सम्बन्ध था, उतना लिख ही दिया है।

धार्मिक स्वतन्त्रता

२०-६-३८

मैं जब कभी संसार के इतिहास की कोई पुस्तक पढ़ने लगता हूँ; तो मेरे दिल में कई तरह के विचार पैदा होते हैं। यह दुनिया सैकड़ों, हज़ारों और लाखों विचित्र और अद्भुत घटनाओं का रङ्ग-मंच है। ये घटनायें किसी एक देश में नहीं, बल्कि दुनिया के अलग-अलग भागों में—सभी कोनों में और सभी कालों में हुई हैं, लेकिन उनमें कितनी ही आश्चर्यजनक समानतायें भी हैं, उनमें से एक समानता यह है कि मनुष्य ने अपने धर्म को दूसरे पर लादने के लिए भीषण अत्याचार किया है। पिछले दो हज़ार बरसों का इतिहास पढ़ लो। भारत का, अरब या फारस का; फ्रांस, जर्मनी, रोम, इङ्गलैण्ड या स्पेन का, सभी देशों का इतिहास इस बात का साची है। कुछ ऐतिहासिकों का अनुमान है कि राजनैतिक या आर्थिक युद्धों में इतने मनुष्यों का नाश नहीं हुआ, जितना धर्म के नाम पर—उस धर्म के नाम पर, जो दुनिया को शान्ति और कल्याण का उपदेश देता है—हुआ है। ऐसे भी विद्वान् हैं; जो सभी ऐतिहासिक घटनाओं की आर्थिक कारण खोजते हैं, लेकिन वे भी धर्म के महत्त्वपूर्ण स्थानको कम नहीं कर सके। बौद्धों और हिन्दुओं के अत्याचारों की बात शायद लोग भूल गये हों, लेकिन हिन्दुस्तान में मुसलमानों ने हिन्दुओं पर जितने अत्याचार किये हैं, उन्हें तो हरेक पढ़ा-लिखा भारतीय जानता है। लाखों हिन्दू-मुसलमान बना लिये गये, और हज़ारों

मन्दिर भूमिसात् कर दिये गये। लेकिन इससे ज्यादा अत्याचार मुसलमानों ने यूरोप में किये। यूरोपियन ईसाइयों के अत्याचार तो अन्य सब धर्मों के अत्याचारों को मात कर देते हैं। पोप ने जिस 'इन्क्विजिशन' की भीषण प्रथा का आविष्कार किया था, उसका इतिहास आज भी उतना ही रोमांचकारी दीखता है। हजारों और लाखों आदमी महज इसलिए जिन्दा जला दिये जाते थे कि वे चर्च के धार्मिक सिद्धान्तोंको हूबहू नहीं मानते थे। फ्रांस की स्वतन्त्रता की देवी 'जीन द आर्क' तक इसी धर्म के नाम पर जिन्दा जला दी गई थी। ग्रीस के महात्मा सुकरात को, जो जोन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में 'सबसे अधिक नीतिवान् और धर्मात्मा था, जो अपने बाद होने वाले सभी पुरुषों के लिए एक आदर्शरूप था, जिसकी विमल कीर्ति अबतक बराबर बढ़ती ही जाती है.-उसी विश्ववन्द्य और पवित्र अन्तःकरण वाले पुरुष" को, अधार्मिकता के नाम पर जहर का प्याला दिया गया। उसका एकमात्र अपराध यह था कि सारा देश जिन देवताओं की पूजा करता था, उन पर उसका विश्वास न था। संसार को शान्ति देने वाले हजरत ईसा तक धर्म के नाम पर सूली पर लटका दिये गये थे। धर्म के नाम पर संसार में जो अत्याचार और हत्याकाण्ड हुए हैं.वे दिल दहला देने वाले हैं। लेकिन इससे भी बड़ी हैरानी की बात यह है कि यह सारी हिंसा और सारा अत्याचार ईमानदारी के साथ किया गया था, किसी जाती फायदे के लिए नहीं। ये सारे रोमांचकारी कृत्य इस दृढ़ विश्वास से किये जाते थे कि हम पुण्य का काम कर रहे हैं और जिस आदमीको जिन्दा जला रहे हैं, उसके पाप नष्ट कर रहे हैं और उसकी आत्मा को बचा रहे हैं। और दर-असल देखा जाय तो जिन लोगों ने ऐसे-ऐसे अत्याचार किये. वे व्यक्तिगत रूप से अत्याचारी भी न थे! साधारण मनुष्यों से किसी

कदर अच्छे ही थे, धर्म और नीति का ज्ञान भी उन्हें पर्याप्त था। तब इस प्रकार की घटनाओं का क्या कारण है?

इसका कारण लोगों का वह अभिमानपूर्ण अन्धविश्वास है, जिसकी वजह से वे अपना व अपने धर्म का तनिक भी विरोध नहीं सह सकते। दुनिया में इस प्रकार के जितने भी पाप, हत्या व खून-खच्चर हुए हैं, वे किसी खास आदमी की क्रूरता या दुष्टता के परिणाम नहीं हैं, बल्कि एक भयंकर सिद्धान्त के परिणाम हैं, इसके दोषी उस समय के सिद्धान्त नहीं हैं, बल्कि वही 'विश्वास' है जो उस समय भी प्रचलित था और आज भी प्रचलित है। यह विश्वास है मनुष्य का अपने धर्म व अपने विचार को सोलह आने सच मानना और दूसरे के धर्म व विचार को असत्य मान-कर उस पर अपना धर्म लादने में परोपकार व धर्म समझना।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि धर्म को लेकर हरेक मनुष्य अपने को पूरी सचाई पर मानने लगता है, यद्यपि जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार "किसी का किसी धर्म को मानना बिलकुल आकस्मिक घटना है। आज एक आदमी ईसाई के घर पैदा हो गया या मुसलमान या हिन्दू के घर तो वह उन-उन घरों में पैदा होने मात्र से ईसाई, मुसलमान या हिन्दू हो गया। यदि वह मुसलमान के घर पैदा न होकर हिन्दू के घर पैदा होता, तो उस की राय में कुरान झूठों का पुलिन्दा होता, पर अब वह कुरान को ही एकमात्र सत्यग्रन्थ मानकर उसे न मानने वालों के गले काटने पर उतारू है। इसी तरह एक मुसलमान भी अपने को निर्भ्रान्त मानता है और एक ईसाई भी, लेकिन दोनों के धर्म बिलकुल विपरीत हैं। दोनों ही एक-दूसरे के विचार, विवेचना, आलोचना

तक़रीर या बहस बिलकुल ही बन्द करना चाहते हैं और इस तरह अपने को बिलकुल ठीक, सही और अपनी बुद्धि को बिलकुल अस्खलित मानने का दावा करते हैं।" आमतौर पर मनुष्य रोज़-मर्रा के व्यवहार में निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं करता, लेकिन धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में वह अपने देश, जाति या पन्थ को ही सत्य मानकर दूसरे देश, जाति या पन्थ की बात को एक-दम ग़लत कह देता है। उसके मन में यह बात कभी नहीं आती कि किसी एक जाति या पन्थ के मत पर विश्वास करना सिर्फ़ एक आकस्मिक घटना है। अपने उस 'सीमित संसार' में पैदा होने या रहने के कारण ही वह उसकी सम्मति पर विश्वास करता है। वह अपने सीमित संसार की राय को सारी दुनिया की राय मानता है। वह यह नहीं सोचता कि जिन कारणों से लन्दन में वह ईसाई हुआ, उन्हीं कारणों से पेकिंग में वह बौद्ध या कन्फ़्यूशियन धर्म का अनुयायी होता।

एक बात और। एक आदमी से जैसे ग़लती हो सकती है, वैसे ही एक युग, एक पुश्त या एक पीढ़ी से भी भूल होसकती है. मिल कहता है कि "यह बात स्वयं सिद्ध है और आवश्यकता होने पर युक्तियों से सिद्ध भी की जा सकती है। हर युग या पुश्त के बहुत से मत ऐसे थे, जो अगली पुश्त के लोगों को भ्रान्तिमूलक या झूठे ही नहीं, बल्कि असङ्गत, बुद्धि-विरुद्ध और अनर्थकारी मालूम हुए। इतिहास इस बात का साक्षी है, और यह भी सच है कि पहले जमाने की बहुत-सी बातें जैसे इस समय कोई नहीं मानता, वैसे ही इस समय जो बहुत-सी बातें सबको मान्य हैं, वे आगे न मानी जायँगी।"

किसी ने बिलकुल ठीक कहा है:—

श्रुतयोऽपि भिन्न: स्मृतयोऽपि भिन्ना:
नैको मुनिर्यस्य वच: प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गत: स पन्था ।

श्रुति स्मृति सरीखे सभी धर्मशास्त्र परस्पर भिन्न-विचार प्रकट करते हैं। इसलिए एक भी मुनि ऐसा नहीं, जिसकी बात प्रमाण मानी जा सके। असल में धर्म का तत्व बहुत गहन है। साधारण मनुष्य को महापुरुषों के जीवन का ही अनुकरण करना चाहिए।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हरेक आदमी अपने धर्म या संस्कृति को मानने में स्वतन्त्र रहे। किसी पर अपना धर्म या संस्कृति लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं—"सभ्यता और संस्कृति की परिभाषा मुश्किल है और मैं इसकी परिभाषा करने की कोशिश करूँगा भी नहीं। लेकिन संस्कृति के अन्दर पाई जाने वाली अनेक बातों में से निस्सन्देह एक चीज़ यह भी है—अपने ऊपर संयम और दूसरों की सुविधा का लिहाज़। अगर किसी आदमी में अपने अन्दर संयम नहीं पाया जाता और वह दूसरों की सुविधा का कोई ख़याल नहीं करता, तो हम यह निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असभ्य और बदतमीज़ है।"

मनुष्य की सभ्यता यह है कि वह भले ही अपने धर्म पर श्रद्धा और विश्वास रक्खे, लेकिन वह अपने धर्म को दूसरे के सिर पर ज़बरदस्ती थोपने की कोशिश न करे। प्रत्येक को अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता रहे, किसी के प्रचार

मार्ग में बाधा न डाली जाय। तुम एक बार ख़याल तो करो कि यदि दूसरे का विचार सुनने पर बिलकुल ही पाबन्दी रहती तो भगवान बुद्ध अपने कल्याण-कारी उपदेशों का प्रचार कैसे कर पाते? स्वामी दयानन्द को मुँह खोलने की आज्ञा न होती तो वह हिन्दुस्तान की भीषण बुराइयों को कैसे दूर करा सकते? स्व० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कैसे विधवा विवाह के लिए आन्दोलन करके विधवाओं को भयंकर अत्याचारों से बचा पाते? यदि चालू विचारों के विरुद्ध आवाज़ न उठाने दी जाती तो चीन की नारी जाति पर सदियों से लोहे की जूती पहनने का जो यन्त्रणामय अत्याचार हो रहा था, उससे उसे कैसे मुक्ति मिलती? भारत में स्त्रियों और शूद्रों से पढ़ने का जो कुदरती अधिकार छीन लिया गया था, वह उन्हें कैसे हासिल होता? या कोई भी लाभकारी राजनैतिक और सामाजिक आंदोलन कैसे सफल होता?

: ८ :

भारत में धार्मिक स्वतंत्रता

२२-८-३८

प्रत्येक मनुष्य अपने धर्म व रीति-रिवाजों को मानने और उनका अपने साथियों या देशभाइयों में प्रचार करने में आज़ाद है—यह सचाई वैसे तो दुनिया के हरेक आदमी के लिए माननीय है, पर हिन्दुस्तान के लिए तो, जहां सैकड़ों मत-मतान्तर हैं और भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी धर्म हैं, इस सत्य को समझने की और भी ज़्यादा जरूरत है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म मानने और उसका प्रचार करने का अधिकार है। प्रत्येक सरकार का फ़र्ज़ है कि वह अपनी प्रजा के इस अधिकार की रक्षा करे। किसी ख़ास धर्म को मानने के कारण किसी को ख़ास अधिकार न दिया जाय और न किसी धर्म-विशेष को मानने के कारण किसी से कोई अधिकार छीना जाय। मुसलमानों का हिन्दुओं पर जज़िया कर लगाना, यूरोप के जुदे-जुदे देशों में कैथलिकों या प्रोटेस्टेण्टों से विशेष पक्षपात या जर्मनी में यहूदियों के नागरिक अधिकार छीनना आदि मनुष्य के झूठे अभिमान के उदाहरण हैं, यहाँ मनुष्य अपने को या अपने धर्म को बिलकुल सच्चा मान लेता है। आज भी भारत में धार्मिक असहिष्णुता के उदाहरणों की कमी नहीं है। हिन्दू मुसलमानों पर यह जोर डालते हैं कि वे गोवध न करें, पीपल न काटें और मुसलमान उन पर बाजा न बजाने की ज़बरदस्ती करते हैं: यह सब क्या है. दूसरे की धार्मिक स्वाधीनता छीनना ही तो है। सरकार का फ़र्ज़ है कि वह सब

धर्मों या जातियों के धार्मिक समारोह मनाने के अधिकार की रक्षा करे।

भारतवर्ष की समस्या केवल जुदा-जुदा धर्मों तक ही सीमित नहीं है। वैदिक या प्राचीन काल में, जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, समाज का संगठन समाज के हित को ध्यान में रखकर किया गया था। लेकिन पीछे एक समय आया, जबकि समाज व्यक्ति पर हावी हो गया। यह भारत का पतनकाल था। इस काल में यहाँ व्यक्तिगत स्वाधीनता इस बुरी तरह से कुचली गई कि समाज का बहुत बड़ा भाग व्यक्तिगत बातों में भी आज़ाद नहीं रह सका है। हिन्दू-समाज की रूढ़िप्रियता, अन्ध-विश्वास और अनुदारता के कारण ही जात-पांत और छूत-छात के कठोर बंधन बनाये गये। अपने आप तो उच्च-वर्ण के पुरुष-समाज ने सब सुविधायें ले लीं, लेकिन दूसरे को वे सामाजिक स्वतन्त्रतायें देने से इन्कार कर दिया। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" में यही रहस्य है, स्त्रियों और दलितवर्ग को शिक्षा तक के अधिकार से वंचित कर दिया गया कितना भीषण अनर्थ है! शूद्र यदि वेद के मन्त्र सुन ले, तो उसके कानों में गरम तेल तक डालने का फ़तवा हमारे यहाँ दे डाला गया है। आज की इस बीसवीं सदी में भी भारत में मनुष्यों को किसी जाति में पैदा होने के कारण ही बहुत-से अधिकारों से वंचित किया जाता है। दलित व्यक्ति किसी उच्च-वर्ण कहलाने वाले को छू नहीं सकता, किसी सार्वजनिक मन्दिर में जा नहीं सकता, और सार्वजनिक कुएँ पर पानी भर नहीं सकता, भले ही वह प्यासा तड़पता रहे। मदरास में तो छुआछूत का भाव बेहद बढ़ा हुआ है। वहाँ अछूतों को बहुत-सी सड़कों तक पर चलने का अधिकार नहीं है। अगर उनकी छाया भी किसी सवर्ण पर पड़ जाय तो उस अछूत बेचारे की तो आफ़त ही आजाती है,

इतना ही नहीं, वे आपस में व्यवहार करने में भी आज़ाद नहीं हैं. वे बहुत जगहों पर ऊन के कपड़े नहीं पहन सकते, सोने-चांदी के गहने पहनना उनके लिए मना है। विवाह के अवसर पर वे घोड़े या हाथी पर नहीं चढ़ सकते, पालकियों में उनकी स्त्रियां नहीं बैठ सकतीं और वे अपने घरों में अपने मन मुताबिक पक्वान्न नहीं बना सकते। भारत के जुदे-जुदे प्रान्तों में इस प्रकार के कठोर बंधन निम्न वर्ण के मनुष्यों पर उच्च-वर्ण के लोगों ने लगा रक्खे हैं। समाज या राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को सामाजिक दृष्टि से पूर्णतः स्वाधीन रहना चाहिए। सरकार का कर्तव्य है कि अपने प्रत्येक अङ्ग के हितों की रक्षा करे। यदि समाज दलितों के एक भाग की उपेक्षा करता है; तो यह भी निश्चित है कि वह भाग भी समाज की परवा न करेगा और अगर उसे समाज के विरुद्ध क्रान्ति या बग़ावत करने का मौका मिला तो वह इसमें भी नहीं चूकेगा। नागरिकों की सामाजिक स्वतन्त्रता का मतलब यह है कि वे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक खान-पान, पहनना-ओढ़ना, रहन-सहन आदि रख सकें. अपने धार्मिक उत्सव समारोह से मना सकें, उनके विवाह-शादी, उनके बालकों की शिक्षा, खेल-कूद तथा स्वदेश या विदेश में जाने-आने में भी राज्य या समाज की ओर से कोई अनुचित बाधा न हो। जिन चीज़ों के बनाने या जिन संस्थाओं को चलाने के लिए राज्य आम रिआया द्वारा दिये गये करों से खर्च करता है, उनके उपयोग में किसी को कुछ बाधा न होनी चाहिए, चाहे वह किसी भी धर्म या मत को मानने वाला हो या किसी जाति में पैदा हुआ हो।

मैं अभी कुछ दिन हुए, पं० जवाहरलाल नेहरूकी 'विश्व-इतिहास की झलक'' पढ़ रहा था। यह पुस्तक बहुत ही अच्छी और

१. सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित—मूल्य ८)

उपयोगी है। मैं तुम्हें इसके पढ़ने की जोरों से सिफ़ारिश करूँगा, इससे तुम्हें बहुत-सी नई और उपयोगी बातें मालूम होंगी और दुनिया का सारा इतिहास तुम्हारी आँखों के आगे खड़ा होजायगा इस पुस्तक में जवाहरलालजी ने हिन्दू-धर्म की उदारता और प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में एक बात बिलकुल ठीक लिखी है— "हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र कई बातों में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे, यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में उनकी प्रगति बहुत धीमी रही, स्वयं हिन्दू-शास्त्र एक तरह से प्रथा या रिवाज हैं और रिवाज हमेशा बदलते और तरक्की करते रहते हैं।" वस्तुतः हिंदू स्मृतिकार कभी किसी बात पर इतने अधिक कट्टर नहीं रहे, उन्होंने हरेक नई उपयोगी और समयानुकूल बात को अपना लिया। यही कारण है कि अलग-अलग समयों में बनी हुई स्मृतियों में हम इतना अन्तर पाते हैं। भिन्न-भिन्न मत रखने वाले आचार्य भी समान आदरबुद्धि से देखे गये हैं। ईश्वर से इन्कार करने वाले कपिल तक मुनि माने गये हैं। भारतवर्ष में जो मत पैदा हुए, सभी हिन्दू-धर्म के उदार और विशाल शरीर के अङ्ग बन गये। यहाँ तक कि बौद्ध-धर्म भी, जो हिन्दू-धर्म का विरोधी था, हिन्दू-धर्म का अङ्ग बन गया और बुद्ध हिन्दुओं के अवतार बन गये। ऐतिहासिकों का खयाल है कि यदि इस्लाम अपनी तलवार के साथ न आता, तो वह भी व्यापक हिन्दू-धर्म का एक अङ्ग बन जाता। महमूद गजनीं के आक्रमण से पहले हिन्दू राजाओं ने इस्लाम की सहायता की, इसके कई उदाहरण मिलते हैं। पर हिन्दू धर्म में कट्टरता कहाँ से आई, इसका भी सुन्दर विवेचन पं० जवाहरलाल करते हैं। वह लिखते हैं—" ब्रिटिश सरकार ने दोनों (हिन्दू और इस्लाम) धरमों के कट्टरपन को बढ़ाने में जानबूझ कर और अनजान में दोनों तरह सहायता दी ....वे धर्म

के ऊपरी रूप की रक्षा और सहायता तक करने लगे।'''कट्टर लोगों की नाराज़ी के डर से सरकार सुधारकों के ख़िलाफ़ कट्टर लोगों का पक्ष लेने लगी, इस तरह सुधार का काम रुकगया''''' हिन्दुशास्त्र का परिस्थितियों के अनुकूल बन सकने का यह गुण ब्रिटिश राज्य के अन्दर गायब हो गया और उसकी जगह बड़े-से बड़े कट्टरपन्थियों की सलाह से बनाये गये कठोर शास्त्रीय नियमों ने ले ली।" यह कट्टरता ही धार्मिक या सामाजिक असहिष्णुता का मूल है।

किसी राष्ट्र के नागरिकों को जहां अपना धर्म, अपनी संस्कृति अपनी विचारधारा प्यारी होती है, वहां अपनी लिपि और अपनी भाषा से भी प्यार होता है। भाषा और लिपि किसी देश या जाति की संस्कृति का एक बड़ा अङ्ग है और इनकी रक्षा का उसे पूरा अधिकार है। एक देश की लिपि और भाषा नष्ट कर दो, उसके अन्दर आत्माभिमान व देशभक्ति की भावना भी कम होजायगी। ज्यादातर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों में संस्कृत या हिन्दी पढ़े हुओं की बनिस्बत भारतीय संस्कृति से कम प्रेम होना स्वाभाविक है। इसीलिए पराधीन राष्ट्र की लिपि व भाषा को नष्ट करने का प्रयत्न शासक लोग अवश्य करते हैं। भारत में अंग्रेजी शिक्षा को मैकाले-योजना का उद्देश्य ही 'काले गोरे' पैदा करना था। सर जान वुडरफ़ के शब्दों में "जो लोग दूसरी भाषा या लिपि) के लिए अपनी भाषा या लिपि) को छोड़ देते हैं या ऐसा करने के लिए विवश किये जाते हैं, वे अपने अस्तित्वको नष्ट कर देते हैं।" राजकार्य में भी अपनी भाषा का प्रयोग करने का अधिकार होना चाहिए। भारत में प्रत्येक प्रान्त को अपनी प्रान्तीय भाषाओं की रक्षा का अधिकार है, लेकिन सार्वदेशिक कार्य के लिए एक राष्ट्र-

भाषा (आजकल सर्वसम्मति से हिन्दुस्तानी को यह पद मिल चुका है) नियत होनी चाहिए। उर्दू या हिन्दी के प्रश्न पर भी इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए।

इस ऊपर लिखे विवेचन से तुम यह न समझ लेना कि प्रत्येक मनुष्य या समाज हरेक प्रकार का आचरण करने में स्वतन्त्र है। प्रत्येक नियम में अपवाद होते हैं। व्यक्तिगत स्वाधीनता के संबंध में भी कुछ अपवाद हैं।

मैं पहले पत्रों में लिख चुका हूँ कि मनुष्यको वे सब अधिकार प्राप्त होने चाहिए, जिनसे समाज की अवनति न हो। किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता की कसौटी भी जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में यह है—"दूसरों को किसी तरह की हानि न पहुँचाकर और अपने हित के लिए किये गये दूसरों के यत्न में बाधा न डालकर, जिस तरह हो, उस तरह, अपने स्वार्थ-साधन की आजादी का नाम स्वाधीनता है।"

प्रत्येक अपना धार्मिक समारोह मनावे, लेकिन उसका समारोह किसी दूसरे के अधिकार में बाधक न हो। मुसलमानों को गोवध का अधिकार तो है. लेकिन उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे उसे सजाकर उन सार्वजनिक सड़कों या बाजारों से ले जावें, जहां रहने वाली अधिकांश हिन्दू आबादी का दिल दुःखे। इसी तरह किसी का यह अधिकार नहीं कि वह अपने धर्म के नाम पर अछूतों और दलितों को उनके सार्वजनिक अधिकारों से वंचित करे। किसी मत में नरबलि का विधान है, तो उसे भी वैसा करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। यदि किसी सम्प्रदाय में ब्रह्मचर्य को महत्त्व नहीं दिया जाता, तो भी उसे व्यभिचार की—वाममार्ग की तान्त्रिक विधियों की आज्ञा नहीं दी जा सकती। आजकल यूरोप में चलने वाले नग्नतावाद का मैं इसीलिए विरोधी हूँ कि

इससे समाज में अनाचार बढ़ने की संभावना बहुत बढ़ जाती है। व्यक्तिगत स्वाधीनता पर भी इसी नुक्ते निगाह से कुछ पाबन्दियां लगाई जाती हैं। एक व्यक्ति कहता है कि मैं अपनी सन्तान को शिक्षा नहीं दूँगा; दूसरा मनुष्य कहता है कि मैं ५० साल का हूँ, तो क्या हुआ, मैं १० साल की लड़की से विवाह करूँगा; तीसरा आदमी सफ़ाई के नियमों को मानने से मैं इन्कार करता है और चौथा वेश्यागमन की छूट चाहता है। उपर्युक्त चारों मनुष्य व्यक्तिगत स्वाधीनता की दुहाई देते हैं। इनको रोकने से इनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता में चोट भी ज़रूर लगती है, लेकिन फिर भी समाज को इन सब पर बन्धन तो लगाने पड़ेंगे, क्योंकि इस प्रकार की स्वाधीनता से समाज की और उस व्यक्ति की स्थायी हानि होती है। समाज में शिक्षा का प्रचार ज़रूरी है, अशिक्षा समाज के धरातल को नीचे ले जाती है। वृद्ध-विवाह एक कन्या पर बलात्कार है इससे उस कन्या का जीवन नष्ट होजाता है। सफ़ाई के नियम न मानने से न केवल नियम तोड़ने वाला बीमार हो सकता है, परन्तु आस-पास भी रोग फैलने का अन्देशा है। वेश्या गमन या शराब भी समाज में बुराइयों को फैलाते हैं—समाज का नैतिक पतन करते हैं। इसलिए इन सब पर पाबन्दी लगनी चाहिए। समाज सुधार के क़ानून भी समाज के स्थायी और व्यापक हित को लक्ष्य में रखकर ही बनाये जाते हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल का एक उद्धरण देकर इस पत्र को समाप्त करूँगा—' यदि कोई आदमी ऐसा काम करता है, जिससे दूसरों को तकलीफ़ होती हैं, तो उसे क़ानून के द्वारा सज़ा देना उचित मालूम होता है। ऐसी भी बहुत-सी बातें है, जिनसे समाज के हित की विशेष संभावना रहती है। वे भी हरेक आदमी से जबरन कराई जा सकती हैं। अदालत में जज के सामने गवाही देने के

लिए हरेक आदमी मजबूर किया जा सकता है, क्योंकि जिस समाज में वह आराम से रहता है, उसके हित या उसकी रक्षा के लिए सहायता करना उसका धर्म है।...किसी की जान बचाने या असहायों पर जुल्म होते देखकर उनकी रक्षा करने के लिए बल-प्रयोग करना उचित है।...जो आदमी दूसरे को लाठी से मारकर उसे चोट पहुंचाता है, वह भी सजा पाने का काम करता है और जो दूसरे को डूबता देखकर उसे बचाने की कोशिश न करके चुपचाप तमाशा देखता रहता है, वह भी सजा पाने का काम करता है।"

मिल ने 'लिबर्टी' के पांचवें अध्याय में दो सिद्धान्तों का जिक्र किया है:—(१) आदमी के जिस काम से उसे छोड़ और किसी का सम्बन्ध नहीं है, उसके लिए वह समाज के सामने जवाबदेह नहीं है। (२ जिन बातों से दूसरों का सम्बन्ध है, उनके लिए हर आदमी समाज के सामने जवाबदेह है। (इसी सिद्धान्त के अनुसार सभी देशों में दण्ड व्यवस्था लागू होती है।)

: ९ :

लिखने और बोलने की स्वतंत्रता

२.-६-३८

तुमने अखबार में पढ़ा होगा कि कुछ दिन हुए इङ्गलैण्ड में एक छोटी-सी घटना होगई थी। हाउस आफ़ कामन्स के एक सदस्य मि० सैण्डीज़ ने पार्लमेण्ट में कुछ सवाल पूछे थे। उन सवालों से मालूम होता था कि सेना के कुछ गुप्त भेद उन्हें मालूम हैं। इस पर सैनिक अधिकारियों ने उनसे जवाब तलब किया कि उन्हें ये समाचार कैसे मालूम हुए। और उन्हें सैनिक अदालत में उपस्थित होने को कहा गया। इसपर पार्लमेण्ट के सदस्यों ने बड़ा हल्ला मचाया। उनका कहना था कि प्रजा के प्रतिनिधियों को अधिकार है कि वे देशहित के सम्बन्ध में प्रत्येक विषय पर जानकारी रक्खें और अधिकारियों से सवाल करें। कुछ सोच-विचार कर सैनिक अधिकारियों ने सैनिक अदालत में हाज़िर होने की आज्ञा वापस लेली, पर पार्लमेण्ट ने सदस्यों के अधिकार पर विचार करने के लिए एक सब-कमेटी नियत करदी है। यह कमेटी क्या निर्णय करेगी, यह तो अभी से नहीं कहा जा सकता, लेकिन इससे यह तो साफ़ है कि ब्रिटिश-जनता अपने अधिकारों के बारे में, जिन्हें उसने बड़ी मुश्किलों से प्राप्त किया है कितनी अधिक सतर्क है। वहाँ के नागरिकों को देश के शासन के संबंध में जो अधिकार मिले हैं, वे उन्हें अपने प्राण से भी प्यारे हैं। यदि नागरिकों के प्रतिनिधि इन अधिकारों को छोड़ देते, तो ग़लती करते। सरकार न जाने कब कौन-सा अधिकार किस तरह

चुपचाप जनता से छीनले, यह हमेशा ख़याल में रखना पड़ता है, अपने अधिकार के सम्बन्ध में इतनी सतर्कता सीखने में हम भारतीयों को, जो 'कोऊ नृप होय, हमें का हानी' का सिद्धान्त मानते हैं, काफ़ी समय लगेगा। अस्तु।

पिछले पत्रों में मैं नागरिक की शारीरिक सामाजिक और धार्मिक स्वतन्त्रताओं पर प्रकाश डालते हुए यह भी बता चुका हूँ कि हरेक नागरिक को शासन के सम्बन्ध में भाग लेने का अधिकार है। और इसके लिए उसे मताधिकार मिलना चाहिए। इतना लिखने के बाद मुझे अब अधिकारों के सम्बन्ध में बहुत कहने की ज़रूरत नहीं रही। फिर भी अधिकारों की चर्चा में दो-तीन ज़रूरी बातों पर अलग-अलग चर्चा कर लेना ज़रूरी है, हालाँकि वे पहले लिखी सब बातों के अन्तर्गत आजाती हैं।

राजनैतिक अधिकारों की चर्चा के सिलसिले में यह बात साफ़ कर चुका हूँ कि प्रत्येक नागरिक का अपने गांव, नगर और देश के शासन में भाग लेने का पूरा अधिकार है। सामाजिक अधिकारों की चर्चा में मैंने यह बताने की कोशिश की थी कि क़िसी मनुष्य, जाति या समूह को अपने को निर्भ्रान्त नहीं मान लेना चाहिए। इन दोनों सिद्धान्तोंको मान लेने के बाद नागरिकों के भाषण, लेखन और संगठनकी स्वतन्त्रता पर ज़्यादा लिखने की ज़रूरत नहीं रह जाती। एक मनुष्य निर्भ्रान्त नहीं है, इसलिए प्रत्येक ऐसे नागरिक को, जो राष्ट्र का अङ्ग है, अपने विचार ज़ाहिर करने की आज़ादी होनी चाहिए। विचार-विनिमय से मनुष्य को अपनी भूल मालूम होती है और वह अपनी विचार-धारा या कार्य-पद्धति में ज़रूरी तबदीली कर लेता है।

हम अपने विचार दो प्रकार से प्रकट कर सकते हैं—(१) भाषण या बातचीत करके, और (२) लिखकर । यदि विचार प्रकट करने की आज़ादी न हो, शासन-नीति और सरकारी कार्यों की आलोचना करने का अधिकार न हो, तो शासन में भाग लेने के अधिकार का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता । शासन में जनता का अधिकार तभी कारगर रह सकता है, जबकि जनता को या जनता के प्रतिनिधियों को लिखने-बोलने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो । आलोचना का अधिकार न होने से सरकार को अपनी ग़लतियों का पता नहीं लग सकता । ग़लतियों का पता न लगने से कोई सरकार अपने शासन को और अधिक अच्छा नहीं कर सकती । इसलिए प्रतिनिधि तन्त्र देशों में पार्टीबन्दी का स्वागत किया जाता है । बहुमत वाला पक्ष अपनी सरकार बनाता है तो अल्पमत उसका विरोध करता है । अल्पमत या विरोधीदल का किसी देश की राजनीति में कम महत्त्व-पूर्ण स्थान नहीं होता । प्रत्येक देश में विरोधी नेताओं का काफ़ी सम्मान होता है, वस्तुतः विरोधी दल के नेता का भी किसी देश की शासन-नीति निर्धारित करने में कम भाग नहीं होता, क्योंकि सरकार को हमेशा उसकी तीव्र आलोचना से भय खाना पड़ता है । इङ्गलैण्ड में तो, जिसे पार्लमेण्ट-पद्धति का जनक कहा जाता है, एक-दो साल से विरोधी नेता के महत्त्व को इतना अधिक माना जाने लगा है कि इसी कार्य के लिए उसे सरकारी खज़ाने से वेतन मिलता है । वस्तुतः विरोधी दल सरकार की मनमानी पर नियन्त्रण रखता है, जनता के अधिकारों की रक्षा करता है और सरकार को ठीक दिशा बतलाता है । जब किसी सवाल पर सरकार लोकमत के खिलाफ़ कार्य करती है, तो वह सरकार में अविश्वास का प्रस्ताव पेश करता है । यदि सचमुच जनमत उसके साथ हुआ, तो

सरकार को स्तीफ़ा देना पड़ता है और फिर नया चुनाव होता है। इस तरह किसी देश की जनता अपने देश की नीति के निर्धारण में पूरा भाग लेती है। यह सब कार्य बिना विचार-स्वातंत्र्य के नहीं होसकता।

केवल असेम्बली या पार्लमेण्ट में ही नहीं, साधारणतः देश में हरेक राजनैतिक पार्टी को संगठन करने और अपने विचारों का प्रचार करने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक अपने विचार सभाओं में प्रकट कर सके और अखबारों में प्रकाशित कर सके। भाषण या अखबार द्वारा सरकार की कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने पर भी सरकार की ओर से कोई पाबन्दी नहीं लगाई जानी चाहिए। सभाओं या अखबारों की आलोचना से ही सरकार को लोकमत का ज्ञान होसकता है। मैं पहले लिख चुका हूँ कि अल्प-संख्यक जातियों को भी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए उसी तरह अल्पमत के राजनैतिक दलों को भी अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए, आज अमुक राजनैतिक दल के विचार दस-बीस या दो-चार सौ व्यक्तियों तक सीमित हैं, इसे लोकमत तो माना नहीं जा सकता, या इसके विचार अत्यन्त क्रांतिकारी हैं, इसे क्यों प्रचारकी आज्ञा दी जाय? यह दलील भी ठीक नहीं है। आज जिस विचार को दस-बीस लोग मानते हैं, सम्भव है कल उसे ही देश का बहुमत मानने लगे। आजकल जुदे-जुदे देशों में जितने शक्तिशाली राजनैतिक दल हैं, वे कभी दो-चार या दस-बीस लोगों से ही शुरू हुए थे। इङ्गलैण्ड का मजदूर-दल कभी बिलकुल ही छोटी संख्या में था, लेकिन समय आया कि दो तीन बार उसके हाथ में इङ्गलैण्ड की सरकार आगई। कभी लिबरल-दल का देश में बोल-

वाला था. लेकिन समय ने पलटा खाया और आज उसकी कोई पूछ नहीं है। इसलिए किसी भी राजनैतिक दल पर, चाहे वह कितना छोटे-से-छोटा क्यों न हो, किसी प्रकार की पाबन्दी लगाना अनुचित है।

विचार स्वतन्त्रता के लिए सभाओं के संगठन की भी स्वतंत्रता आवश्यक है! सार्वजनिक सभाओं के संगठन पर किसी प्रकार की रोक लगाना अनुचित है। प्रत्येक व्यक्ति को एक या अधिक आदमियों के साथ मिलकर बैठने या बातचीत करने का अधिकार है मैज़िनी ने एक जगह लिखा है कि 'एक परमात्मा की सन्तान होने से तुम सब भाई-भाई हो और क्या भाई-भाई के परस्पर मिलने-बैठने—सभा-सम्मेलन करने में बाधा डालना गुनाह नहीं है?" लेकिन इस स्थिति का मुकाबिला तुम अपने भारतवर्ष से तो करो। लार्ड विलिंगडन के शासन में, जिसे आर्डिनेन्स राज भी कहा जाता है, भारतीय जनता के कितने नागरिक अधिकारों पर कुल्हाड़ा चला था? अखबारों पर आर्डिनेन्स की नगी तलवार हमेशा लटकती थी। हिन्दुस्तानमें एक भी राष्ट्रीय पत्र ऐसा न था जिससे हज़ारों की जमानत न माँगी गई हो। जिन अखबारों की जमानतें ज़ब्त की गई हैं, वे भी ४०-५० हज़ार से कम न होंगी। बहुत-से अखबारों ने तो सम्पादकीय लेख ही लिखना छोड़ दिया था। सभाओं पर, जलूसों पर या व्यक्तियों पर १४४ धारा व आर्डिनेन्स का बराबर प्रहार रहता था। अब चूंकि समय बदल गया है; भारत के सात प्रान्तों नें नये विधान के अनुसार काँग्रेस ने पदग्रहण कर लिया है, जिसके फलस्वरूप लोगों को बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता दे दी गई है; लेकिन भारत के बहुत-से भागों में—उन प्रान्तों में जहाँ गैरकाँग्रेसी राज्य

है और देसी रियासतों में-यही आर्डीनेन्स राज्य जारी है, जनता के लेखन, भाषण और संगठन पर हर तरह की पाबन्दी है। भारतकी राजधानी दिल्ली तक में सब पाबन्दियाँ पहले की तरह ही मौजूद हैं। कई रियासतों में तो कोई नया अखबार नहीं निकल सकता। किसी-किसी रियासत में बिना लाइसैन्स के टाइप-राइटर तक रखने का अधिकार नहीं है। राजनैतिक अखबार ही नहीं, सामाजिक अखबार तक बिना आज्ञा नहीं निकाले जा सकते। प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधियों की असेम्बली आदि की तो बात ही दूर है। राजनैतिक संगठन ही नहीं, दूसरे भी सब प्रकार के निर्दोष धार्मिक, जातीय, व्यापारिक, साहित्यिक संगठन करने का अधिकार नागरिकों को होना चाहिए। सिर्फ इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि ये सब संगठन किसी दूसरे को नुकसान न पहुंचावें।

विचार-स्वातंत्र्य पर पाबन्दी लगाने के प्रश्न में यह खास दलील दी जाती है कि कुछ व्यक्ति जो आदत से उद्दण्ड और शरारती होते हैं, उन्हें अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करने देने के लिए या समाज में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए सार्वजनिक भाषण या लेखन पर पाबन्दी रखना जरूरी है। यह हम मान लेते हैं कि समाज में ऐसे आदमी होते हैं, पर थोड़े से लोगों के अपराध के लिए साधारण जनता के नागरिक अधिकारों को कुचलना तो किसी भी हालत में उचित नहीं है। ऐसे उद्दण्ड व्यक्तियों पर सरकार मुकदमे चला सकती है या उनका दमन कर सकती है। डाक्टर मरे ने एक जगह कहा है कि " किसी नैतिक सिद्धान्त का यह कहकर खण्डन नहीं किया जा सकता कि लापरवाह लोग इसका दुरुपयोग करते हैं। विचार-स्वतन्त्रता पर रोक लगा देने से बहुत हानि होती है। सबसे बड़ी हानि तो यही

कि राज्य नागरिकों के विचार और अनुभव का लाभ नहीं उठा सकता। जब आदमियों को खुले आम अपने विचार प्रकट करने से रोका जाता है, तो वे प्रायः चोरी से लुकछिप कर जहां-तहां बातें करते हैं, अखबारें वा पुस्तकें छापते या बेचते हैं। इस लुका-छिपी से नागरिकों में भय का भी संचार होता है, जो उनके चरित्र के पतन में सहायक होता है। दूसरे इस दमन-नीति से प्रजा में असंतोष भी बढ़ता है और यह राज्य के लिए अच्छा नहीं होता। इंजिन के बायलर से निकलने वाली भाफ़ के बाहर जाने के मार्ग को बन्द कर देने से उसके फटने का हमेशा अन्देशा रहता है। विचारस्वातन्त्र्य को रोकने का भी नतीजा अक्सर यह होता है कि जनता में असंतोष की अग्नि फूट पड़ती है। संसार में प्रजा की ओर से जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, ज्यादातर प्रजा के अधिकारों को और उनके वैध आन्दोलन को दबाने के परिणाम-स्वरूप ही हुई हैं। इसलिए यह जरूरी है कि नागरिकों की गतिविधि पर अनुचित बन्धन कभी न लगाये जाने चाहिएँ।

यहां वेद के दो मन्त्र लिख देना अप्रासांगिक न होगा। वेद-मन्त्र लिखने या प्राचीन शास्त्रों से प्रमाण देने की मेरी आदत नहीं है। मैं समझता हूँ कि हमें शास्त्र के प्रमाणों पर आश्रित रहना छोड़कर हरेक विषय पर स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिए। पर मैं ये मन्त्र इसलिए नीचे दे रहा हूँ कि इससे प्राचीन भारत का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण मालूम होजाय। वे दो मन्त्र निम्नलिखित हैं:—

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥ १॥

अक्षद्रुग्धो राजन्यः, पाप आत्मपराजितः। स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि माश्वः॥ २॥

अथर्व अ० ४, सूक्त १८

कितने थोड़े से शब्दों में राजनीति के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का विवेचन कर दिया गया है। ब्राह्मण की वाणी इसलिए नहीं है कि राजन्य, क्षत्रिय या सरकार उसे खाजाय, दबादे। जो आत्म पराजित लोकमत को दबाने वाला वस्तुतः अपने पराजय को स्वीकार करके ही दूसरों को बोलने नहीं देता) ब्राह्मण की गौ को लोकमत को दबाता है, वह भले ही आज अपने को सफल मान ले, लेकिन उसकी यह सफलता स्थायी नहीं होगी। दमननीति अंत में कभी सफल नहीं होती।

जहाँ राजनैतिक विचार प्रकट करने की आजादी आवश्यक है, वहाँ उसकी एक मर्यादा नियत करना भी उतना ही जरूरी है। मर्यादा का नियम भी वही है जिसका हम पहले जिक्र कर आये हैं। वह नियम यह है कि विचार प्रकट करने वाले की स्वतन्त्रता किसी दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न हो या उसे हानि न पहुँचाये। विचार प्रकट करते हुए किसी को गाली-गलौज देना किसी का दिल दुखाना या समाज के विचारों को कलुषित करना भी बुरा है। स्त्रियों की नंगी तस्वीरें, अश्लील विज्ञापन या लेख लिखना आदि पर प्राय सभी देशों में थोड़े-बहुत बन्धन लगाये जाते हैं। जातिगत कलह के भाषणों पर भी पूर्ण नियन्त्रण लगाना जरूरी है। इसकी जरूरत तो हम भारतीय अच्छी तरह समझ सकते हैं, सभाओं पर पाबन्दी नहीं लगानी चाहिए, लेकिन जब किसी सभा में हिंसात्मक भाषण दिये जा रहे हों, यह पूरा भय हो कि सभा का परिणाम दंगा होगा, तो ऐसी सभाओं को क़ानूनन रोका जा सकता है। यदि कोई उत्तेजित मजमा किसी के विरुद्ध लूटमार करने, मकानों को आग लगाने या मरने-मारने के लिए तैयार दीखे, तो उसी समय उसे तितर-बितर कर देना जरूरी है, लेकिन यह जरूरी है कि ऐसा करने में यथासम्भव कम-से-कम हानि पहुंचाने की सावधानी की जाय।

आर्थिक स्वतन्त्रता

२६—६—३८

इन दिनों के अखबारों से तुम्हें कानपुर की हड़ताल का हाल मालूम होता रहता होगा। इन दिनों इस समस्या से युक्तप्रान्त की काँग्रेस सरकार को बहुत परेशानी रही। एक प्रसिद्ध व्यवसायी के कथनानुसार इस हड़ताल से देश को १८ करोड़ रुपयों का नुक़सान हुआ। व्यापार-व्यवसाय को कितना धक्का लगा, यह इसीसे मालूम होता है कि पोस्ट आफिस को ही डाक व तार आदि में कमी के कारण ५०० रु० रोज का नुकसान हुआ। १९३७ की हड़तालों के बारे में भारत-सरकार ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की है, उससे मालूम होता है कि पिछले साल हड़तालों से ८९,८२००० दिन बेकार गये। बंगाल, बम्बइ और युक्तप्रान्त में क्रमशः ६०,६०,८८३,१८, ६७,८१७ और ७,०४,९४० दिन ख़राब गये।

अक्सर पूंजीपतियों की ओर से यह प्रश्न किया जाता है कि मजदूरों को क्या ऐसी भीषण हड़तालें करने का अधिकार भी है, जिनसे राष्ट्र को करोड़ों रुपयों का नुक़सान हो। इसी प्रश्न के साथ नागरिकों की आर्थिक स्वाधीनता का सवाल खड़ा होता है, जिसकी ओर मैं अपने पहले किसी पत्र में तुम्हारा ध्यान खींच चुका हूँ। मै इस पत्र में इसी विषय पर कुछ विस्तार से विचार करना चाहता हूँ।

मैं पिछले पत्र में लिख चुका हूँ कि नागरिकों को जहां अपने

जीवन के अस्तित्व की गारंटी होनी चाहिए, वहां उन्हें अपनी सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी बेफ़िक्री होनी चाहिए। पर इससे भी पहले हरेक नागरिकको यह भी निश्चय होना चाहिए कि वह भूखों नहीं मरेगा। जहाँ राज्य नागरिकों की घातक रोगों, हिंस्र पशुओं, और लुटेरों से रक्षा की जिम्मेदारी लेता है, वहाँ उसे भूख और उसके कारणस्वरूप बेकारी से भी नागरिकों को बचाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए। आज करोड़ों हिन्दुस्तानी भूखों पेट सोते हैं। भारतीय जनसंख्या विभाग के कई साल तक अध्यक्ष रहने वाले सर विलियम हंटर की राय में भारत के ४ करोड़ लोगों को भर पेट भोजन कभी नहीं मिलता। आसाम के चीफ़ कमिश्नर सर चार्ल्स इलियट ने कहा था -- "मुझे यह लिखने में जरा भी संकोच नहीं कि आधे से ज्यादा किसान वर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक यह भी नहीं जानते कि पेट-भर खाना किसे कहते हैं।" 'इण्डियन विटनेस' नामक ईसाइयों के एक अखबार के अनुसार "१० करोड़ भारतीयों की सालाना आमदनी ५ शिलिंग (३॥। रुपये) से अधिक नहीं होती।" झाँसी डिविजन के कमिश्नर की सम्मति में उस डिविजन का एक भाग हमेशा आधा-पेट भोजन पाता है। वाइसराय की कौंसिल के कर-विभाग के अनुभवी सदस्य की जाँच के मुताबिक ४० फ़ीसदी किसान पेट-भर भोजन नहीं पाते। सरकारी अफ़सरों की ये कुछ सम्मतियाँ हैं। अगर संग्रह करने लगूँ, तो एक पुस्तक ही तैयार होजाय। पर इस की जरूरत नहीं। हाथ कंगन को आरसी क्या? तुम किसी भी गाँव में चले जाओ गरीबी और भूख का यह ताण्डव बिना तलाश किये ही दीखने लगेगा। यह जीवन भी कोई जीवन है ? इस गरीबी के कारणों की विवेचना में जाने की यहाँ जरूरत नहीं। मेरा कहना तो यह है कि किसी जिम्मेदार सरकार का फ़र्ज है कि

वह नागरिकों को रोटी की चिन्ता से भी निश्चिन्त करदे । जो व्यक्ति मेहनत से जी चुराता है, उसके लिए तो कोई ज़िम्मेदारी नहीं ले सकता, लेकिन जो नागरिक मेहनत करने को तैयार है, सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसे काम दे और भूखों न मरने दे । सिर्फ़ काम ही देने से यह मतलब हल नहीं होगा । सरकार का यह भी फ़र्ज़ है और दूसरे शब्दों में नागरिकों का यह अधिकार है कि उन्हें इतनी कम तनख़्वाह न मिले कि जिससे उनकी ख़ास-ख़ास ज़रूरतें भी पूरी न हों । कई सभ्य और उन्नत देशों में सरकारों ने अपने इन कर्तव्यों की ज़िम्मेदारी समझ ली है और वे हरेक बेकार को या तो काम दिलाने की व्यवस्था करती हैं या फिर निर्वाह के लिए रुपया देती हैं । इङ्गलैण्ड के हरेक बेकार मज़दूर को करीब ४०-५०) रु० हर माह दिया जाता है । दूसरे कोई राष्ट्रों में भी बेकारों के लिए कुछ-न-कुछ नियम बने हुए हैं । कम-से-कम वेतन निश्चित करने के सिद्धान्त को भी कई सरकारों ने मंजूर किया है । इसके अनुसार किसी मालिक को तय की हुई रक़म से कम तनख़्वाह देने का हक़ नहीं है ।

जब एक नागरिक राष्ट्र और समाज की सेवा करता है, जब उसने भी समाज के अनेक बन्धन मान लिये हैं, जब वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों द्वारा राष्ट्र के खजाने की पूर्ति में सहायक होता है, तब क्या समाज या राष्ट्र का यह फ़र्ज नहीं है कि वह उसकी जीवन-सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करे ? अगर राष्ट्र यह ज़िम्मेदारी नहीं लेता तो उसे भी नागरिकों से यह उम्मीद करने का क्या अधिकार है कि वे उसकी सेवा के लिए सदा तैयार रहेंगे ? बीमारी या बुढ़ापे में जब नागरिक कमाने योग्य नहीं

रहता, तब भी सरकार का कर्तव्य है कि उसके खाने-कपड़े की व्यवस्था करे ।

आर्थिक अधिकारों का उल्लेख करते हुए मैं पिछले किसी पत्र में लिख चुका हूँ कि प्रत्येक नागरिक को यह गारंटी होनी चाहिए कि उसकी पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट नहीं होगी और न उसे कोई छीन सकेगा, पर यह उपार्जित सम्पत्ति चोरी, डाके या धोखे से कमायी हुई न हो। साधारण अर्थों में हम जिसे चोरी या डाका कहते हैं, प्रायः प्रत्येक सरकार यह ख़याल रखती है कि इस तरह सम्पत्ति का उपार्जन करनेवाले को दण्ड दिया जाय। लेकिन कई विचारकों की राय में केवल किसी की ग़ैरहाज़िरी में माल चुरा लेना या किसी को डरा-धमका कर किसी का माल ले लेना ही चोरी नहीं है। किसी की ख़ास परिस्थिति से नाजायज फ़ायदा उठाना भी चोरी है। किसी की मेहनत का फल आप खाजाना भी चोरी है। एक किसान या मज़दूर दिन-भर कड़ी मशक्क़त करता है, अपना खून पसीना एक कर देता है, लेकिन उसकी कमाई का बड़ा भाग ज़मींदार या पूंजीपति ले लेता है। ज़मींदार और पूंजीपति की कमाई हुई पूंजी भी या तो मजदूरों की मिहनतकी कमाई है या उसके बाप-दादा की। इस पूंजी के बनाने में भी तो समाज का बड़ा भारी हाथ है। रेल, तार, डाक, क़ानून और पुलिस आदि सभी की मदद से तो एक पुरुष धनी हुआ है। यदि क़ानून का डर न हो, तो डाकू बड़े-से-बड़े करोड़पति को थोड़े ही समय में कंगाल करदें। समाज के सहयोग से रक्षित और पैदा की हुई सम्पत्ति पर क्यों एक ही आदमी का अधिकार होजाय? फिर क्या यह अन्याय नहीं है कि आज से सौ-दोसौ साल पहले किसी ने अपनी मेहनत से या सरकार की मिहरबानी से या क़िसी

दूसरे तरीक़े से बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया, तो उसके वंशज बिना मेहनत किये उसका उपयोग करते चले जावें? क्या यह न्याय है कि एक पुरुष तो खून पसीना बहाकर ५) रु० महीने से ज्यादा नहीं पाता और एक आदमी समाज के सहयोग से रक्षित सम्पत्ति द्वारा गुलछर्रें उड़ाता है। इस तरह विचार करनेवालों का कहना है कि समाज में सम्पत्ति का समान बटवारा होना चाहिए, तभी प्रत्येक नागरिक को उसका पूरा अधिकार मिल सकेगा। जबतक यह नहीं होता, तबतक प्रत्येक पूंजीपति और प्रत्येक जमींदार मजदूर और किसान के अधिकार का अपहरण करता रहेगा, उनके हाथ से रोटी छीनकर खाता रहेगा। जिस तरह सरकार का यह फ़र्ज है कि किसी को किसी के घर डाका न डालने दे, उसी तरह उसका यह भी फ़र्ज है कि सदियों से संगठित चोरी और डाके की इस संस्था पूँजीवाद को भी खत्म करदे। साधारण चोरी से एक दो आदमी तबाह होते हैं, लेकिन चोरी की इस संस्था से, जिसे सरकारी क़ानून और सैनिक-बल से सदा सहारा मिलता रहा है, करोड़ों आदमी तबाह हो गये हैं। नागरिक का यह अधिकार है कि उसकी मेहनत से कोई नाजायज फ़ायदा न उठाये, उसे अपनी मिहनत का पूरा फल भोगने का अधिकार हो।

यही विचारक-श्रेणी इस विचार धारा के साथ नागरिकों को वह अधिकार देना चाहती है कि उन्हें अपने जीवन की रक्षा के लिये—आर्थिक अधिकारों की गारंटी के लिये हर किस्म के आन्दोलन करने का हक़ है। कारखानों की हड़ताल इसी आन्दोलन का एक रूप है। जब मिल मालिक बहुत सताते हों, वेतन कम देते हों, ज्यादा समय काम लेते हों या दूसरी तरह की ज्यादतियाँ

वृद्धि करेगा सुन्दर और शिव उद्देश्य के लिए हिंसा का–असत्य का – झूठ का प्रयोग कभी सुन्दर परिणाम नहीं पैदा कर सकता। वह सम्पत्ति के मौजूदा असमान बँटवारे का हल दो प्रकार से बताते हैं। वह समान-विभाजन के बजाय अपरिग्रह (जरूरत से ज्यादा चीजों का संग्रह न करने) पर ज्यादा जोर देते हैं। वह कहते हैं कि समान बँटवारा तो एक ऊपरी इलाज है। यह बीमारी दूर करने की असली दवा नहीं है। सामाजिक व्यवस्था, विषमता या अशान्ति की असली जड़ सम्पत्ति का असमान विभाजन नहीं; बल्कि परिग्रह यानी अपनी जरूरत से ज्यादा संग्रह करने की प्रवृत्ति है। यही असली बुराई है। यदि अपरिग्रह के पालन की ओर दुनिया ध्यान दे तो कोई भूखों नहीं मर सकता। संसार में खाने-पीने की चीजों की कमी नहीं है। आवश्यकता है अपरिग्रह की—यानी कोई अपनी जरूरत से ज्यादा न ले। गाँधीवाद के एक प्रमुख विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्रता की ओर'[१] (पृष्ठ ३४२) में लिखते हैं, 'समान-विभाजन एक ऊपरी इलाज है. अपरिग्रह मनुष्यकी इच्छा पर ही संयम लगाता है। एक बाहरी बन्धन है: दूसरा भीतरी विकास। समान बँटवारा जीवन के स्टैण्डर्ड पर कोई क़ैद नहीं लगाता, सिर्फ़ सम्पत्ति के समान रूप से बँट जाने पर जोर देता है, इसके विपरीत अपरिग्रह जीवन की साधारण आवश्यकताओं तक ही मनुष्य को परिमित कर देना चाहता है। इसमें मनुष्य के लिए स्वेच्छापूर्वक त्याग, संयम और उसके फलस्वरूप सामाजिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक रहेगी।" यही भारतीय और रूसी संस्कृति का भेद है। महात्मा गाँधी यन्त्रवाद या बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने को अपरिग्रह के सिद्धान्त के विरुद्ध और मनुष्य

१. सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित—मूल्य १॥)

की स्वतन्त्रता में बाधक समझते हैं. इस कारण उसका विरोध करते हैं। मशीनरी की तह में एकदम ज्यादा-से-ज्यादा पैदा कर लेने की — परिग्रह की — इच्छा काम कर रही होती है और इसी परिग्रह-प्रवृत्ति का नतीजा है पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, एक देश का दूसरे की आज़ादी कुचलना। महात्मा गाँधी जमींदार को सलाह देते हैं कि वह अपने को सम्पत्ति का मालिक न समझकर ट्रस्टी समझे और जिसे उसकी ज़रूरत हो, उसे इस्तेमाल करने में रुकावट न डाले। उनकी राय में धनवान लोग अगर ऐसा व्यवहार रक्खेंगे कि उनके बाग़-बगीचे, बंगले, गहने लत्ते, गाड़ी-घोड़े, बरतन, दरी, गलीचे आदि उनके आश्रितोंको इस्तेमाल के लिए मिल सकें, अगर वे उनकी सब ज़रूरतों का ख़याल रक्खें, तो धनी लोगों के सोने के बरतन में भोजन करने पर भी ग़रीबों को उनकी डाह न होगी।"

मैं शायद इस चर्चा में बहुत दूर चला गया। मेरा मतलब तो सिर्फ़ यह था कि प्रजा का यह अधिकार है कि उसकी जीवन-निर्वाह की आवश्यकतायें पूरी होनी चाहिएं। गाँधीजी और समाजवादियों के तरीक़े में अन्तर है। जहाँतक अधिकार का सवाल है, दोनों यह मानते हैं कि कोई भूखा न रहे; लेकिन जहाँ साधन का विवेचन होगा, वहाँ गाँधीजी उदार, सत्य कल्याण-भावना की, आत्म-विकास की सलाह देंगे और साम्यवादी गृह-कलह हिंसा और खून-खराबी को।

समाज या सरकार द्वारा उत्पत्ति के सब साधनों पर क़ब्ज़ा करने का यह एक नतीजा होगा कि हरेक शख्स अपने आजीविका निर्वाह में भी परतन्त्र होजायगा, यह वस्तुतः नागरिक अधिकारों पर कुठारा-घात है। आज व्यवसाय-प्रधान देशों में भी, जहाँ

व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिद्धान्त माना जाता है, क्रियात्मक रूप से व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकता; क्योंकि उसे आखिर थोड़ेसे कारखानों में से किसी-न-किसी में काम करने पर लाचार होना पड़ता है। परन्तु गांधीवाद में, जहाँ घर-घर उत्पत्ति का काम किया जाता है, मनुष्य अपने काम के चुनाव और कार्यविधि में मिलकी बनिस्बत बहुत स्वतन्त्र होता है। फिर भी ऐसे कुछ नियन्त्रण तो सरकार को लगाने ही होंगे, जैसे व्याज की दर, कम-से-कम वेतन आदि का तय करना, जिससे ग़रीब जनता का धनी-वर्ग शोषण न कर सके।

सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि किसी आदमी पर धर्म: जाति, वर्ण या लिंग की वजह से आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण न किया जाय, किसी के साथ पक्षपात न हो, किसी के साथ अन्याय न हो। सबको समानरूप से आर्थिक विकास का अधिकार हो। खेती या व्यवसाय आदि पर जो कर लगाये जायें, वे नागरिकों की शक्ति से अधिक न हों। शासन-विभाग इतना अधिक खर्चीला न हो कि जनता पर वह भाररूप होजाय। भारत में जितनी भी आर्थिक श्रेणियाँ हैं, उन सबके हित का खयाल रक्खा जाय। जनता के आर्थिक विकास में सरकार पूरी तरह सहयोग दे। पुल, सड़क, रेल, तार, डाक और रक्षा आदि की व्यवस्था करना उसका कर्तव्य है। इसी तरह की अनेक बातों पर ध्यान खींचा जा सकता है, लेकिन इन सबकी तह में जो सिद्धांत काम कर रहा है, उसका निर्देश मैं ऊपर कर ही चुका हूँ।

नागरिकों की आर्थिक स्वाधीनता तबतक क़ायम नहीं रह सकती, जबतक सारा देश ही आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र न हो।

आजकल अनेक देशों में राजनैतिक पराधीनता न होते हुए भी आर्थिक पराधीनता होती है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण चीन है, जहाँ विदेशी पूंजीपतियों और सरकारों ने प्रायः सारी आर्थिक मशीनरी पर अधिकार कर रक्खा है इसी कारण चीन अपने व्यवसाय में बहुत कम तरक्की कर पाया है।

: ११ :

हमारे और अधिकार

२७—६—३८

पिछले पत्रों में मैंने देश की राजनैतिक स्वाधीनता के सिवा प्राय: सब नागरिक अधिकारों का थोड़े में परिचय दे दिया है। लेकिन इन अधिकारों के अन्तर्गत दूसरे भी कई अधिकार हैं, जिनका उल्लेख कर देना जरूरी है।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार शिक्षा प्राप्त करने का है। जीवन, स्वास्थ्य और सम्पत्ति की रक्षा की गारंटी का अधिकार जैसे नागरिक के लिए जरूरी है, ठीक उसी तरह समाज या राज्य का यह भी कर्तव्य है कि हरेक नागरिक के लिए कम-से-कम इतनी शिक्षा का प्रबन्ध तो जरूर करदे कि वह मामूली तौर पर लिख-पढ़ सके और अपने घर का हिसाब रख सके। जिस प्रकार एक राज्य की बहादुर या धनी जनता उसका बल होती है, ठीक उसी तरह शिक्षित जनता भी देश की एक शक्ति होती है। शिक्षा के फ़ायदे गिनाने की न तो यह जगह ही है और न जरूरत। शिक्षा से नागरिक अपने लाभ-हानि का विचार करने, चिट्ठी-पत्री लिखने-पढ़ने, हिसाब रखने तथा देश-विदेश की उपयोगी बातें जानने के लायक हो जाता है। एक समय था, जब यूरोप में सरकारें शिक्षा देना अपना कर्तव्य नहीं समझती थी, लेकिन अब तो शिक्षा पर वे बहुत भारी रक़म खर्च करने लगी हैं। प्राचीन भारत में सरकार यद्यपि शिक्षा का सब इन्तजाम खुद नहीं करती थी, लेकिन वह शिक्षा के प्रचार में पूरी मदद देती

थी। भारतीय समाज का जो प्राचीन संगठन था, उसमें शिक्षा के दान की बहुत सुन्दर व्यवस्था थी। "सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते' कहकर शिक्षादान का महत्त्व स्वीकार किया गया था। यह काम ब्राह्मण-श्रेणी के सुपुर्द था। हरेक छोटा या बड़ा ब्राह्मण अपना यह फ़र्ज समझता था कि वह गाँव के लड़कों को पढ़ावे। हरेक ब्राह्मण का घर एक पाठशाला होता था, जहाँ गाँव के लड़के पढ़ते रहते थे। उन ब्राह्मणों का निर्वाह दो तरह से होता था। एक तो साधारण जनता द्वारा अनाज आदि की दक्षिणा के रूप में, और दूसरे सरकार या पंचायत द्वारा ज़मीन के दान के रूप में। सरकार की ओर से उन्हें बिना टैक्स की ज़मीनें मिली होती थीं उपनिषद् की वह कथा तुमने ज़रूर सुनी होगी जिसमें राजा अश्वपति ने बड़े अभिमान से यह कहा था कि मेरे राज्य-भर में कोई अशिक्षित नहीं है।[१] बहुत पुराने ज़माने की बात छोड़ भी दें तो भी अंग्रेज़ी अमलदारी के शुरू में भी शिक्षा का प्रचार आज से ज्यादा था। बंगाल के एक अंग्रेज़ स्कूल इंस्पेक्टर ने १८६८ ई० में लिखा था कि "अनगिनत पाठशालाओं, चट-शालों और झोंपड़ों में, जो आज सारे देश में फैले हुए हैं, व्यापक शिक्षा का परिणाम देखा जा सकता है। उपेक्षा, घृणा और पिछले एक हजार साल की विपरीत अवस्थाओं के बावजूद आज ये संस्थायें जीवित हैं। इसी से ज्ञात होता है कि इनके मूल में

१. न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, नस्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्य उपनिषद्)

अर्थात् मेरे राज्य में एक भी चोर, कंजूस, शराबी, अग्निहोत्र न करनेवाला, अशिक्षित और व्यभिचारी पुरुष नहीं है। तब व्यभिचारिणी कोई कैसे हो सकती है?

कितनी जबरदस्त प्रेरणा और शक्ति थी। आजकल धार्मिक-भाव दिन-ब-दिन कमज़ोर होरहे हैं, ग्रामों की पंचायतें भी अपने दिन गिन रही हैं, उद्योग-धन्धे भी नष्ट होते जा रहे हैं, ज़मीन पर टैक्स का भारी बोझ लादा जा रहा है और अदालतों व व्यापार और दूसरे सरकारी कारोबार पर विदेशी भाषा ने क़ब्जा कर लिया है। इस तरह लोकप्रिय शिक्षा को मिलनेवाली राष्ट्रीय प्रेरणा लगातार कम हो रही है। इस शिक्षा) की उन्नति अब इस बात पर निर्भर है कि विदेशी शासन से होने वाली इस क्षति को सरकार किस तरह पूरा करती है।" लेकिन सरकार ने इस क्षति को पूरा करने के बदले उन ब्राह्मणों की आजीविका का साधन भी छीन लिया। वे माफ़ी को जमीनें भी जो सदियों और हज़ारों सालों से उन्हें मिली हुई थीं, उनसे छीन ली गईं।

आज हालत यह है कि जब दूसरे देशों की सरकारें नागरिकों की शिक्षा पर बड़ी-बड़ी रक़में ख़र्च करती हैं, तब भारत में शिक्षा पर खर्च होने वाली रक़म बहुत थोड़ी है। १९३१ के आँकड़ों के अनुसार भारत-सरकार देश की आबादी के हिसाब से प्रति व्यक्ति सिर्फ़ १) रु० शिक्षा पर ख़र्च करती थी, जबकि ग्रेटब्रिटेन में ३२।, कनाडा में ४८) और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ६५) रु० ख़र्च होता था। इसका नतीजा यह है कि जहाँ भारत में सिर्फ़ ८ फ़ीसदी नागरिक पढ़े-लिखे हैं, वहाँ ग्रेट ब्रिटेन में ९२.५. फ्रांस में ९४, जर्मनी में ९९.७, जापान में ९९ और आस्ट्रेलिया में ९८.३ फ़ीसदी हैं। ब्रिटिश भारत में प्रत्येक २१ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहा था, जबकि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका व कनाडा में हर ४ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा हासिल कर रहा था। वस्तुतः शिक्षा भी मनुष्य की दूसरी अनिवार्य आवश्यकताओं के समान

एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस कारण सरकार का फ़र्ज़ है कि वह नागरिकों की प्राथमिक शिक्षा का पूरा प्रबन्ध करे और इसका खर्च उनपर न लादे।

नागरिकों का एक यह भी अधिकार है कि सरकार जो नये क़ानून बनावे या कोई खास हिदायत देना चाहे, उसके जनता में फैलाने का काफ़ी इन्तजाम करे। हालांकि क़ानून का न जानना अदालत की निगाह में कोई सफ़ाई नहीं है, फिर भी नागरिकों का यह पूर्ण अधिकार है कि उन्हें समय-समय यह मालूम होता रहे कि कौन-सा नया क़ानून बना है, कौन-सा नया हुक्म जारी हुआ है, किस चीज़ पर टैक्स लगाया, बढ़ाया या घटाया गया है। बगैर इन बातों के जाने लोग अगर नियम-भंग करें, तो वस्तुतः उनका दोष नहीं है। हरेक नये नियम या आज्ञा का प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में अखबारों, ट्रैक्टों भाषणों और डोंडी आदि के द्वारा सर्वसाधारण तक प्रचार करना चाहिए।

व्यापार-व्यवसाय आदि की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि व्यापारिक भेद गुप्त रह सकें। इसी तरह लोगों की बहुत-सी ऐसी घरेलू या सामाजिक बातें होती हैं, जिनका गुप्त रहना जरूरी है। सरकार का यह फ़र्ज़ है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि डाक, तार, टेलीफोन आदि के जरिये होने वाली लोगों की गुप्त बातचीत बाहर प्रकट न हो सके। इस सुविधा के बिना न व्यापार चल सकते हैं और न घरेलू व सामाजिक प्रश्न हल हो सकते हैं, अगर किसी तरह कोई महत्त्वपूर्ण भेद प्रकट होजाय तो जिम्मेदार कर्मचारी को सजा दी जानी चाहिए, जिससे आगे ऐसी घटनायें न होने पावें।

देश की जनता को जीवन-निर्वाह की गारण्टी या काम दे देने

से ही सरकार का फ़र्ज़ पूरा नहीं होजाता। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह हरेक आदमी के काम की स्थिति की भी देखभाल करे. एक मजदूर कारख़ाने में काम करता है, उसे वेतन भी सरकार द्वारा नियत की हुई दर के मुताबिक मिल जाता है। लेकिन इतने से ही सरकार निश्चिन्त नहीं हो सकती। उसे यह भी तो देखना चाहिए कि मजदूर जिस कारख़ाने में काम करता है. वहाँ रोशनी और हवा का इन्तजाम है या नहीं, वहाँ उसे बहुत सख़्त गर्मी या सर्दी का तो मुक़ाबिला नहीं करना पड़ता, वहाँ मशीनों से उसे चोट लगने या उसकी जान जाने का ख़तरा तो नहीं है, और दुर्घटना होने पर उसका मुआवजा उस कारखाने का मालिक देता है या नहीं, उसे तनख़्वाह ठीक समय पर मिल जाती है या नहीं उसके साथ बहुत ज्यादती तो नहीं होती, बालकों और स्त्रियों को अपनी ताक़त से तो ज्यादा काम नहीं करना पड़ता ? एक समय था कि सरकारें इस आवश्यक विषय की ओर बहुत कम ध्यान देती थीं। उस समय के राजनीतिज्ञों का खयाल था कि ये सब बातें देखना मजदूर का काम है। यदि उसे किसी कारखाने की हालत पसन्द है, तो वह काम करेगा, नहीं तो नहीं करेगा। इस तरह मजदूरों के इन्कार करने से विवश होकर मालिक खुद इन्तजाम करेगा। यह मालिकों और मजदूरों का आपसी मामला है. इसमें सरकार को दस्तंदाजी नहीं करनी चाहिए। लेकिन अब राजनीतिज्ञों का विचार बदल गया है। पूंजीपति अपने धन के प्रभाव से हजारों लोगों को अपनी मुट्ठी में कर लेता है. जो गरीबी की वजह से सभी प्रकार की अच्छी-बुरी शर्तें स्वीकार करने को विवश होते हैं। सरकार इतनी बड़ी संख्या की ओर से महज इसीलिए आँखें बन्द नहीं कर सकती कि उन्होंने कारखाने की हालतें जानते-बूझते हुए भी वहां काम करना मंजूर किया है।

हुआ। ऐसी सब हालतों में सरकार का यह फ़र्ज़ होता है कि वह बाज़ार भावको ठीक रखने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करे। यह काम कई तरह से किया जा सकता है। वह विदेशों से आने वाली चीज़ों (आयात) पर या किसी ख़ास ज़रूरी वस्तु के बाहर जाने निर्यात) पर तटकर लगा सकती है, मण्डियों का नियंत्रण कर सकती है, क़ानून द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित कर सकती है. अपनी मुद्रा में कमी-बेशी करके क़ीमत पर असर डाल सकतीहै किसी फ़सल की उपज पर नियन्त्रण करके मूल्यों में कमी को रोक सकतीहै, मैं इन सबके विस्तार में नहीं जाना चाहता. तुम अखबारों में प्रतिदिन इस प्रकार के समाचार पढ़ते रहते होगे। असल में यह सब व्यवस्था करना सरकार का फ़र्ज़ है। जनता की हर तरह की चिन्ता और समस्या हल करने की ज़िम्मेदारी सरकार पर है, क्योंकि जनता ने अपनी शक्ति सरकार में केन्द्रित करदी है। इसी दृष्टि से अधिकार के सम्बन्ध में तुम जितना भी विचार करोगे, उतना ही साफ़ तौर पर जनता के सभी अधिकार तुम्हारे सामने आजायँगे।

इस पत्र के साथ मैं अपनी राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) के उस प्रस्ताव[१] की नक़ल भी भेज रहा हूँ. जिसमें उसने अपने आदर्श स्वराज्य की कल्पना की है और जिसमें नागरिकों के प्रायः सभी मौलिक अधिकारों का समावेश हो गया है।

१. देखिए परिशिष्ट नं० २।

: १२ :

हमारा देश आज़ाद हो

२६-६-३८

पिछले पत्रों में मनुष्य के प्राय: सभी नागरिक अधिकारों पर मैं रोशनी डाल चुका हूँ। इनपर जितना विस्तार से विचार किया जायगा उतने ही ज्यादा अधिकार के भेद हमें मालूम होंगे लेकिन इस पत्र में मैं जिस अधिकार का ज़िक्र करना चाहताहूँ वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसी पर सब नागरिक अधिकारों का दारोमदार है। यदि वह न हो, तो दूसरे सब नागरिक अधिकारों की प्राप्ति नामुमकिन हो जाती है। वह महत्त्वपूर्ण अधिकार है अपने देश की आज़ादी। जिस समाज या राष्ट्र में राष्ट्रीय स्वाधीनता ही नहीं है, उसमें दूसरी किसी-व्यक्तिगत, सामाजिक राजनैतिक या आर्थिक स्वाधीनता की कल्पना ही नहीं हो सकती। विदेशियों के राज्य में शासकों का शासित देश की अपेक्षा शासक-देश के हितों को ज्यादा प्रधानता देना निश्चित है। अगर शासक देश अपना लाभ न देखे, तो वह एक देश को राजनैतिक गुलामी में रखने के लिए भारी झंझट क्यों करे? आजकल जितने भी पराधीन राज्य हैं, उन सबके शासक अपने अधीन देशों का लगातार आर्थिक व राजनैतिक शोषण कर रहे हैं। दूसरे देशों का उदाहरण देने की जरूरत नहीं। हम भारतवासी ही राजनैतिक गुलामी के बहुत बड़े उदाहरण हैं। हमारे यहाँ भारत की आर्थिक, व्यापारिक और व्यावसायिक नीति बनाते समय हमेशा पहले ब्रिटिश हितों को तरजीह दी जाती है। इसके लिए मैं तुम्हारा ध्यान पिछले डेढ़सौ

बरसों के भारत के आर्थिक इतिहास की ओर खींचना ही काफ़ी समझता हूँ। किन नीच उपायों से ब्रिटेन के हित के लिए भारत के व्यापार-व्यवसाय को नष्ट किया गया, किस तरह संसार के सब से धनी देश को डेढ़सौ बरसों में दुनिया का सबसे ग़रीब देश बना दिया गया. किस तरह आज भी विनिमय-दर को ब्रिटेन के अनुकूल रखकर भारत का करोड़ों रुपया हरसाल इङ्गलैण्ड ले जाया जा रहा है, किस तरह भारत के उठते हुए नये व्यवसायों को एक्साइज़-करों या संधियों की आड़ में दबाया जाता रहा है, किस तरह अंग्रेज़ों को भारी-भारी नौकरियाँ देकर भारत के ग़रीब कर-दाताओं पर शासन का भारी बोझ लादा जा रहा है, किस तरह विदेशी पूँजीपतियों से अनुचित शर्तें करके उन्हें मनमाना लाभ उठाने दिया जाता रहा है, यह सब कहानी भारत के ही इतिहास में नहीं, दुनिया के इतिहास में भी अपना एक ख़ास स्थान रखती है। जब एक देश में उसका हित ही न देखा जाय, तो उस देश के नागरिकों को आर्थिक स्वाधीनता मिलने की भी उम्मीद कैसे की जा सकती है? यहाँ तो सभी देशवासियों की आर्थिक स्वाधीनता के मूल में ही कुठाराघात किया गया है। यह भी स्वाभाविक है कि इन परिस्थितियों में हिन्दुस्तानी लोग अपनी आज़ादी पाने के लिए प्रयत्न करते। पर वे कोई प्रयत्न न कर सकें, इसके लिए भी शासकों ने दमननीति का पूरा सहारा लिया, उनके हथियार छीन लिये गये, उनके लिखने-बोलने पर पाबन्दी लगा दी गई, उनके सभा-संगठनों पर व्यापक रूप से नियन्त्रण कियागया, नागरिकों की गति-विधि पर भी कठोर नियन्त्रण किया गया, देश को अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपनी लिपि तक नष्ट करने में कुछ नहीं उठा रक्खा गया। इसके अलावा सारे देश को, जो संसार में सबसे सभ्य राष्ट्र था, ज़हरीली शिक्षा देकर

उनका मानसिक और चारित्रिक पतन करने का भी प्रयत्न किया गया, जिससे वे स्वतन्त्रता की चर्चा ही करना भूल जायँ। केवल भारत ही नहीं, सारे गुलाम देशों में यही घटनायें दुहराई जाती हैं। असल में किसी देश की परतन्त्रता की कहानी उस देश के इतिहास का सबसे करुणा-पूर्ण अध्याय होता है।

यही सब कारण हैं कि देशवासी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए खुशी से सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहते हैं;राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए संसार में सैकड़ों लड़ाइयाँ हुई हैं और उन राष्ट्रों के युद्धों में हमें सोने के अक्षरों में लिखे जाने योग्य अपूर्व बलिदान के बीसियों उदाहरण मिलते हैं। हालैण्ड, आयर-लैण्ड, अमेरिका आदि के स्वातन्त्र्य-युद्ध कितने अधिक स्फूर्तिदायक हैं, यह इतिहास के किस विद्यार्थी को मालूम नहीं है? भारत का पिछला अहिंसात्मक स्वातन्त्र्य-युद्ध क्या कम स्फूर्तिदायक है? आज भी चीन अपनी आज़ादी की रक्षा के लिए जो-कुछ कर रहा है, वह तुम्हें मालूम ही है। यह सब त्याग और बलिदान किस लिए? इसलिए कि मेरा देश आज़ाद हो—मैं सब नागरिक स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकूं; क्योंकि किसी देश की आज़ादी ही अन्य सारी नागरिक स्वतन्त्रताओं का मूल आधार है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नष्ट होने से व्यक्तिगत आत्म-स्वातन्त्र्य भी नष्ट हो जाता है और आत्म-स्वातन्त्र्य के नष्ट होने पर नैतिक विकास असंभव होजाता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होजाय, तो अन्य सब नागरिक स्वाधीनताओं को हासिल करना भी संभव हो जाता है, लेकिन इस स्वतन्त्रता के अभाव में तो अन्य सब अधिकारों की आशा करना बालू से तेल निकालने की आशा करना है।

इस पत्र के साथ मैं अधिकारों की चर्चा समाप्त करता हूँ। अधिकारों की चर्चा बहुत लोकप्रिय विषय है। सभी अधिकार प्राप्त करने को उत्सुक हैं। लेकिन केवल उत्सुकता से कुछ नहीं होता। अधिकार-प्राप्ति की योग्यता भी तो प्राप्त करनी चाहिए। और फिर अधिकारों की रक्षा के लिए भी ताक़त, संगठन और दृढ़ संकल्प भी उतने ही ज़रूरी हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि अधिकार पाकर नागरिक या राष्ट्र मद में चूर न हो जाय।

किया जा सकता है मैजिनी ने इटली के मज़दूरों को अपनी पुस्तक का उद्देश्य बताते हुए कहा है कि अधिकार की बजाय कर्तव्यों का उपदेश देना तुम्हें विचित्र प्रतीत होगा। तुम कहोगे कि "हम गरीब हैं, गुलाम हैं और दुःखी हैं। हमारे सामने तो भौतिक सुखों की बात करो, हमें आज़ादी, सुख व अधिकारों का सन्देश सुनाओ। हमें बताओ कि क्या हमारी ज़िन्दगी इसी तरह दुःख में बीतेगी या हम कभी सुख भी भोगेंगे। कर्तव्यों का उपदेश तो हमारे मालिकों को दो जो हमसे मशीनों की तरह काम लेते हैं और जो हम पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। हमें तो अधिकार, संगठन और ताक़त का सन्देश सुनाओ, जिससे हम उनसे बदला ले सकें। जब हम शक्ति सम्पन्न हो जावें, भर-पेट रोटी खाने लगें और तन ढकने को बढ़िया कपड़ा पहनने लगें, तब आप हमें कर्तव्य का उपदेश देना! आज के हिन्दुस्तानी और खास कर दुःखी-दरिद्र ग्रामीण भी यही कह सकते हैं। और उनकी यह बात दिल को लगती भी जरूर है। बात यह है कि उन लोगों को, जो अब तक अपने मालिकों की, सरकारी अफ़सरों और जमींदारों की जायज-नाजायज सभी आज्ञाओं को बिना ननुनच सिर-आँखों रखते आये हैं, जो अपने आप भूखों रह कर, गरमी और सरदी में नंगे बदन दिन गुजार कर अपना सब-कुछ ज़मींदारों व हाकिमों को अर्पण करते रहे हैं, उनके सामने कर्तव्य की चर्चा करना क्या पागलपन नहीं है? मैजिनी ने इसका जो जवाब दिया है, वह मनन करने योग्य है। वह कहते हैं कि मनुष्य के अधिकारों के नाम पर पिछली सदियों में कई महान कार्य हुए हैं—फ्रांस की क्रान्ति या उसके बाद आने वाली अनेक भीषण क्रान्तियां, मनुष्य के अधिकारों की घोषणा, दार्शनिकों व साहित्यिकों द्वारा मनुष्य के अधिकार की चर्चा आदि महान् कार्य हुए हैं। कई देशों में मनुष्य ने अधिकार भी प्राप्त कर लिए हैं, पर क्या वस्तुतः उनकी हालत

सुधर गई है ? क्या इन देशों में रहने वाले सुखी हैं ? वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उत्पत्ति जरूर दुगनी हो गई है. व्यापार खूब बढ़ गया है . आने-जाने के साधन भी खूब सुधर गये और सुगम हो गये हैं. मनुष्य के पैदायशी अधिकार को भी मंजूर किया जाने लगा है. राजनैतिक दृष्टि से भी मनुष्य अपने को कहीं ऊँचा समझने लगा है. पर क्या इस सब के बावजूद मनुष्य की—आम जनता की हालत सुधर गई है ? उत्पति के सब में समान विभाजन के बजाय क्यों एक नयी कुलीन श्रेणी बनाने का प्रयत्न हो रहा है ? व्यापार और व्यवसाय की वैज्ञानिक उन्नति का नतीजा मानव जाति का कल्याण न होकर क्यों ? थोड़े से इने-गिने मनुष्यों का भोगविलास-मय जीवन हो गया है इसके उत्तर में मैजिनी कहते हैं कि इसका जवाब साफ़ है। जिस श्रेणी ने क्रान्ति की है, उसके सामने एक ही उद्देश्य था और वह था स्वाधीनता—व्यक्तिगत स्वाधीनता और नागरिक स्वाधीनता की प्राप्ति लेकिन इसका उन आम लोगों के लिए कोई मतलब न था. जिन्हें यह आज़ादी नहीं मिली थी। असलमें जिन लोगों का व्यापार-व्यवसाय से कोई तालुक न था. जिनके पास न पैसा था. न शिक्षा, उन्हें तो कोई अधिकार ही नहीं मिला। इन अधिकारों को प्राप्त करने वाली तो एक छोटीसी मध्यम-वर्ग की जमात थी. जिनके पास ज़मीन थी और पैसा भी था। इस क्रान्ति से आम लोगों का, जो दिन-रात कड़ी मेहनत करने वाले मज़दूर या किसान थे कोई सम्बन्ध न था। इनके लिए तो स्वतंत्रता और अधिकारों की घोषणा एक मज़ाक था। उनकी ओर मध्यमवर्ग की जमात ने भी उपेक्षा दिखाई उसे तो अपने अधिकारों को परवा थी. दूसरे की उसे कोई चिन्ता न थी। जब उसके स्वार्थ दूसरे से टकराये, तब एक युद्ध हुआ। यह युद्ध बन्दूकों व तोपों का न था. यह एक नये किस्म की सोने-चांदी की लड़ाई थी—चालाकी व धोखेबाज़ी की लड़ाई। पर

इसका नतीजा तलवारों और तोपों के हिंसात्मक युद्ध से भी भीषण था। इस लड़ाई में पैसेवालों ने ग़रीबों को तबाह करदिया। मनुष्य की स्वतंत्रता उच्छृंखलता के रूप में परिणत हो गई। धार्मिक या नैतिक भावना का बंधन न होने से हरेक अपना सुख, अपना स्वार्थ खोजने लगा। किसी को यह फ़िक्र न हुई कि हमारी आज़ादी से दूसरे के अधिकार कुचले जा रहे हैं।

अधिकारों की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। उनका अस्तित्व है और निश्चित है। पर सवाल उठता है कि जहाँ एक शख़्स के अधिकार दूसरे के अधिकारों से टकराते हैं. वहाँ दोनों का समन्वय कैसे होगा? जहां एक मनुष्य के अधिकारों का, एक समूह या देश के अधिकारों से संघर्ष हो, वहाँ कौनसी अदालत में अपील की जाय? अगर मज़दूर और मिल-मालिक सभी को अपने स्वार्थ के साधन का ही ख़याल रहे, तो इन दोनों के झगड़ों का पंच कौन बनेगा? यदि जीवित रहने का अधिकार सबको है तो समाज के हित के लिए अगर मरना पड़े तो कौन मरेगा और कौन किससे त्याग और बलिदान की अपील करेगा? क्या तुम देश, समाज या बिरादरी के नाम से यह अपील करोगे? देश या समाज भी क्या है? समाज ने यही तो मनुष्य को तसल्ली दी है कि वह अपने अधिकारों का इस्तेमाल कर सकता है। अब क्या तुम उसे कहोगे कि वह सब अधिकार समाज को सौंप दे और यदि समाज के लिए जरूरी हो तो वह जेल जाय, युद्ध में लड़े और मर जाय? अपने सुख को समझने का समाज ने उसे उपदेश दिया और अब क्या समाज ही उसे कहेगा कि वह अपना सुख और अपना जीवन देश या समाज को विदेशियों से मुक्त करने के लिये बलिदान करदे? और कहोगे किस आधार पर? तुमने उसे बरसों से भौतिक स्वार्थों की शिक्षा दी है। तब तुम उससे यह कैसे आशा

कर सकते हो कि वह अब अपनी पहुंच में आई हुई सम्पत्ति व शक्ति को छोड़ देगा? वह तो उसे अपने अधिकार में रखने की भरपूर कोशिश करेगा, भले ही दूसरों के हितों को नुक़सान पहुंचे।

मैज़िनी बड़े दुःख के साथ इटली की आम जनता को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि उनका यह विचार-प्रवाह अकारण ही नहीं है। यह इतिहास है—हमारे अपने समय का इतिहास है, जिसके पन्ने-के-पन्ने हमारे भाइयों के खून से रंगे हुए हैं; जिसे देखने के बाद मैं इन नतीजों पर पहुंचा हूँ। १८३० की भयंकर क्रान्ति देखो, जब हज़ारों लोग क्रान्ति के नाम पर राजकीय और धर्म के उच्च अधिकारियों से दूसरी छोटी-सी श्रेणी के (मध्यवर्ग) के हाथ में सत्ता लेने के लिए मार दिये गये। यह सब क्यों हुआ? इसका कारण था अधिकारों के सिद्धान्त की शिक्षा। कर्तव्य की शिक्षा उन्हें नहीं दी गई थी। उन्होंने (मध्यमश्रेणी ने) आमलोगों की सहायता से चार्ल्स दसवें के विरुद्ध युद्ध किया और सब प्रकार के कष्ट सहन किये. लेकिन जब उन लोगों को राजनैतिक अधिकार मिल गये, उन्हें बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ मिल गईं, जब उन्हें वह सुख मिल गया जिसके लिए उन्होंने लड़ाई की थी, तो वे आम जनता को, उन लाखों लोगों—को भूल गये, जो शिक्षा में, धन में उनसे छोटे थे। उन्हें आम जनता की चिन्ता ही न रही और उनका अधिकार-युद्ध खतम हो गया।

संसार के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे, जबकि एक श्रेणी ने मानव-अधिकार के नामपर शासकों से संघर्ष किया, लेकिन जब ताक़त उनके हाथ में आगई, तब वे भी आम लोगों के अधिकारों की उसी तरह उपेक्षा करने लगे, जिस तरह पहले के शासक उनकी उपेक्षा किया करते थे। इसका एकमात्र कारण यह है कि उन्हें अधिकार प्राप्ति की शिक्षा तो खूब दी गई, लेकिन

कर्तव्य पालन की सलाह नहीं दी गयी थी। उन्हें यह तो बताया गया कि अपने अधिकारों के लिए लड़ो, लेकिन उन्हें यह सलाह नहीं दी गई कि समाज या राष्ट्र के प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्तव्य है, अपने अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ दूसरे के अधिकारों की भी रक्षा तुम्हें करनी है।

यदि अधिकारों के सिद्धान्तों में विश्वास करनेवाला एक व्यक्ति समाज या राष्ट्र के प्रति यह कह करके विद्रोह कर दे कि मैं समाज के कायदे-कानून नहीं मानता; मैं तो अपने अधिकारों की रक्षा करूंगा, मुझे कौन रोक सकता है. मैं जो चाहूँ, करूँगा। ऐसे विद्रोही को किस तरह रोका जा सकता है? यदि वह कायदे कानून तोड़े, तो तुम्हें दण्ड देने का क्या अधिकार है? वह तो अपने अधिकारों के लिए लड़ता है और इसका उसे अधिकार है; हमारा उसे दण्ड देना तो एक लड़ाई-सी हुई, शान्ति तो न हुई। वस्तुतः ऐसी बागी प्रवृत्ति को अधिकार की शिक्षा देकर नहीं. कर्तव्य-पालन की शिक्षा देकर ही शान्त किया जा सकता है। अधिकारों का सिद्धान्त हमें उन्नत होने और सब बाधायें उखाड़ फैंकने में सहायता देता है, लेकिन राष्ट्र के जुदा-जुदा हिस्सों में समन्वय, संगठन और स्थायी शान्ति पैदा नहीं करता। व्यक्तिगत सुख के सिद्धान्त से ऐसे आदमी तो पैदा हो जायेंगे, जो अहम्‌भाव रखते हों, दुनियावी सुखों में विश्वास करते हों, लेकिन समाज की कल्याण-भावनावाले पैदा नहीं हो सकेंगे। इसके लिए कर्तव्य के सिद्धान्त की शिक्षा देना निहायत जरूरी होगा। हमें लोगों को यह समझाना होगा कि एक परमात्मा के सब पुत्रों को एक नियम का पालन करना है। हरेक यह सोचे कि मुझे दूसरों के लिये जाना है। सिर्फ अपने ही लिये नहीं केवल अपना सुख ही मेरा उद्देश्य नहीं, अपना और अपने सब पड़ोसियों का सुख भी मुझे देखना

चाहिये. अपने भाइयों के फायदे के लिये अन्याय और पाप के विरुद्ध युद्ध करना केवल अधिकार ही नहीं है. यह मेरा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को भूल जाना पाप है। अधिकार छोड़ने को कोई सज़ाइ नहीं देता, लेकिन अधिकार को प्राप्ति के लिये भी कर्तव्य पालन बहुत जरूरी है। बिना कर्तव्यपालन के अपने अधिकारों की रक्षा असम्भव है। मज़िनी के शब्दों में अपनी उन्नति भी अपने प्रति कर्तव्य का पालन है। वह कर्तव्य को इतनी प्रमुखता देता है कि उसे उद्देश्य और अधिकार को साधना कहता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हुए अपने अधिकार पड़ोसी के अधिकार और समाज या देश के अधिकार के प्रति भी मनुष्य अपनी जिम्मेदारी निभा सकता है।

इस पत्रमाला को शुरू करते हुए मैंने अधिकार और कर्तव्य पर विचार करते हुए लिखा था कि— "मनुष्य के जीवन के लिए समाज लाज़मी है. इसलिए उसकी रक्षा भी लाजमी है। .... अगर समाज की रक्षा न की गई, इसे नष्ट होने दिया गया तो. यह नष्ट होकर मनुष्य को भी मार देगा।" "समाज मनुष्य की उन्नति में बाधक न हो और मनुष्य समाज की उन्नति में बाधक न हो। दोनों एक दूसरे की उन्नति में मददगार हों। ऐसी हालत उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को समाज के प्रति जो कुछ करना पड़ता है, वही उसका कर्तव्य है। ...मनुष्य एक हाथ से समाज को अपने कर्तव्य पालन के रूप में कुछ देता है और दूसरे हाथ से अपने अधिकारों की रक्षा के नाम से कुछ ले लेता है। यह 'ले' और 'दे' का समन्वय ही हमें समझने की आवश्यकता है।" दूसरे पत्र में भी मैंने कर्तव्य का निर्देश करते हुए लिखा था — "मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता क़ायम रखने के लिए ही—बलवान आक्रमणकारी. मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात

न कर सकें, इस उद्देश्य से समाज या राज्य की कल्पना की थी। ......समाज के लिए कुछ बन्धन आवश्यक हैं यानी अधिकारों की रक्षा के लिए बन्धन अनिवार्य हैं। ...... मनुष्य पर राज्य का बन्धन मनुष्य को उछृङ्खलता रोकने के लिये और राज्य पर मनुष्य का नियंत्रण या बन्धन राज्य की उछृङ्खलता रोकने के लिये लगाया जाता है। पहले प्रकार के बन्धन मनुष्य के कर्तव्य हैं और दूसरे प्रकार के बन्धन अधिकार हैं।"

खुद जीना मेरा अधिकार है, लेकिन दूसरे को जीने देना मेरा कर्तव्य है। मैं चाहता हूँ कि मेरे अधिकारों की रक्षा हो, लेकिन सामूहिक अधिकार-रक्षा के लिए यह निहायत जरूरी है कि मैं दूसरे के अधिकार की भी रक्षा करूँ। अगर लोग अपने कर्तव्य की — दूसरे अधिकार-रक्षा की चिन्ता न करें, तो संसार में किसी का अधिकार भी सुरक्षित न रहे। सभी को हर समय दूसरे से अपने अधिकार छिन जाने का खतरा रहे तो समाज भी नष्ट होजाय। मैं जहाँ समाज से लाभ की आशा करता हूँ, वहाँ दूसरा भी तो समाज से, जिसका कि मैं भी एक अंग हूँ लाभ की आशा करता है। समाज के प्रति लोगों की उपेक्षा का नतीजा ऐसी अराजकता होगी, जिसमें किसी के अधिकार न बच सकेंगे।

हरेक को अनुभव करना चाहिए कि यदि मैं समाज के लिए नहीं हूँ; तो समाज भी तो सिर्फ मेरे लिए नहीं है। समाज के अधिकार की रक्षा का दूसरा नाम कर्तव्य है। आर्यसमाज केप्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के दस नियमों में से दो नियमों में समाज के प्रति कर्तव्य पर खासकर जोर दिया है। ६ वां नियम यह है—'प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' १०वां

नियम यह है—"सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए; प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतंत्र रहना चाहिए।" सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना और सर्वहितकारी नियम-पालन में परतंत्र रहना बंधन स्वीकार करना कर्तव्य के सिद्धान्त का मुख्य आधार है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान, जान स्टुअर्ट मिल की 'स्वाधीनता' पुस्तक. ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं दो नियमों की व्याख्या है। वह स्वाधीनता का लक्षण करते हुए लिखता है कि—दुसरों को किसी तरह हानि न पहुँचाकर और अपने हित के लिये किए गये दूसरों के यत्न में बाधा न डाल कर अपने स्वार्थ-साधन की आजादी का नाम स्वाधीनता है।" यह शर्तें कर्तव्य-पालन का ही निर्देश करती हैं।

संसार में आज जो अशान्ति है, वह चाहे छोटे क्षेत्र में हो या बड़े क्षेत्र में, चाहे एक ग्राम में हो, देश में हो या अन्तर्राष्ट्रीय संसार में, सबका मूल कारण लोगों, जातियों या राष्ट्रों की अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षा है। हरेक अपने अधिकार की रक्षा तो चाहता है, लेकिन अपने पड़ोसी, अपने समाज, ग्राम, शहर, प्रान्त या देश और संसार के दूसरे राष्ट्रों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों की उपेक्षा करता है। इसी लिए आज संसार की आर्थिक और राजनैतिक समस्यायें इतना भीषण आकार धारण करके सामने आ रही हैं।

साधारणतः कर्तव्य को हम नीचे लिखे विभागों में बाँट सकते हैं—

(१) अपने प्रति—अपनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और भौतिक उन्नति। जब तक समाज के अंग ही पुष्ट न होंगे, समाज कैसे पुष्ट हो सकता है? मनुष्य खुद भी समाज का एक

अंग है, इसलिए अपने प्रति लापरवाही भी समाज के प्रति लापरवाही है।

(२) ग्राम व नगर के प्रति—हमारे राजनैतिक संगठन की इकाई ग्राम या नगर होते हैं। इनकी उन्नति अपनी उन्नति के लिए जरूरी है।

(३) देश के प्रति—राज्य किसी देश की उन्नति और अवनति के लिए बहुत उत्तरदायी है। जननी होने के कारण हम माता की इज्जत करते हैं, लेकिन मातृभूमि तो सारे देशवासियों की जननी है। देश ही दुर्बल होगया, गुलाम होगया तो देशवासी भी सुखी नहीं रह सकते।

(४) समाज के प्रति—समाज के जुदे-जुदे वर्गों, स्त्रियों, बालकों और दलितों के अधिकारों की हम पूरी रक्षा करें। विधर्मियों का भी आदर करें। और विभिन्न आर्थिक श्रेणियों—मजदूरों, किसानों आदि के सुखों और अधिकारों का ख्याल रक्खें।

इस तरह स्वयं, परिवार मुहल्ला, ग्राम, जिला, प्रान्त और देश तक अपने कर्तव्य का दायरा बढ़ाते-बढ़ाते हम सारी दुनियाँ तक अपना दायरा बढ़ा सकते हैं. जब हर एक व्यक्ति को हम अपना मानेंगे. हरेक देशवासी या हरेक धर्म मानने वाले का हमें अभीष्ट होगा। उस समय हमारा उद्देश्य होगा—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥"

आगे के पत्रों में मैं कर्तव्य की इन्हीं दो चार श्रेणियों पर रोशनी डालने की कोशिश करूँगा।

* १४ *

अपने लिए क्या करूँ ?

८–९–३८

हिन्दू शास्त्रकारों ने मनुष्य के जीवन का उद्देश्य मोक्ष बताया है। उनकी राय में स्वतंत्रता आत्मा का स्वभाव है। किसी बंधन में पड़ना उसके स्वभाव के विपरीत है, लेकिन कर्मफल के संयोग से उसे छोटे-बड़े अनेक बंधनों में आना जाना पड़ता है। इन बंधनों से छुटने की कोशिश उसे हमेशा करते रहना चाहिए एक साधक न केवल संसार के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक बंधनों को तोड़ डालना चाहता है; बल्कि जीवन-मरण के बंधन से भी छूटने की कोशिश करता है। मनुष्य के अपने प्रति कर्तव्यों का विवेचन करते हुए धर्मशास्त्रों ने बहुत से योग, नियम और व्रत आदि बताये हैं, जिनसे आत्मा अपने जीवन को आदर्श बनाते हुए आध्यात्मिक उन्नति द्वारा परमात्मा में लीन हो सकता है और मोक्ष या निर्वाण पा सकता है।

लेकिन इन पत्रों में मैं इन कर्तव्यों का जिक्र नहीं करना चाहता। न तो मैं उसका अपने को अधिकारी ही मानता हूँ और न यह इस पत्रमाला का विषय है। यहाँ तो मैं केवल उन गुणों और कर्तव्यों का ही जिक्र करना चाहता हूँ, जिनका समाज के साथ - इस भौतिक जगत् की उन्नति के साथ सीधा सम्बन्ध है। निजी उन्नति के बारे में दुनिया के बहुत से फिलासफरों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। इन सब पर विचार करना मेरे लिए नामुमकिन है। मैं तो थोड़े में ही इस विषय का जिक्र-भर करना चाहता हूँ।

शारीरिक उन्नति

एक भारतीय विद्वान का कथन है—कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।" यदि शरीर ही तन्दुरुस्त नहीं तो लौकिक और पारलौकिक व्यवहारों में सफलता पाना कठिन है। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन वास करता है,' कहावत में पूरी सचाई है। बिना तन्दुरुस्ती के जीवन बोझ होता है। किसी काम में भी उत्साह और रस नहीं लिया जा सकता। एक रोगी शरीर न जीवन का सुख ले सकता है और न कोई उन्नति कर सकता है। वह तो अपनी चारपाई पर पड़ा रहता है या दवाइयों की खोज में डाक्टरों के दर-दर भटकता रहता है। दुनियाँ में उसका जीवन व्यर्थ बीतता है। हमेशा बीमार रहने वाले का जीना या मरना समाज के लिए बराबर है, क्योंकि वह समाज पर भार के सिवा उसके किसी काम नहीं आता। जबतक किसी देश का स्वास्थ्य अच्छा नहीं वह किसी भी दिशा में उन्नति नहीं कर सकता। भारतवर्ष में निरन्तर होनेवाले शारीरिक ह्रास की ओर में तुम्हारा ध्यान अपने चौथे पत्र में खींच चुका हूँ। एक बार उन रोमाँच कारी आँकड़ों को फिर पढ़ो और सोचो कि भारत में इस ओर कितना ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है। ५०—६० साल तक दुनियाँ का अनुभव लेने के बाद ऐसी उम्र आती है, जबकि मनुष्य अपनी ओर से संसार को कुछ दे सके, लेकिन उससे पहिले ही वह संसार से चला जाता है। इसका मतलब यह है कि दुनियां करोड़ों व्यक्तियों के कई दर्शकों के अनुभवों के लाभ से वंचित रह जाती है। शारीरिक उन्नति के उपाय तुम बीसियों स्वास्थ्य-सम्बन्धी किताबों में पढ़ सकते हो और तुम जानते भी हो, फिर भी यह विषय अधूरा न रह जाय, इस लिए मैं कुछ उपायों की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूं—

(१) मनुष्य को 'शतं जीवेम शरदः शतम्' (यानी मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूं) की वेद-प्रार्थना को अपना आदर्श बनाना चाहिए। इसके लिए दृढ़ संकल्प, आशावाद और हमेशा खुश रहने के गुणों का रहना बहुत जरूरी है। इन तीन गुणों का शरीर पर जितना असर पड़ता है, उतना दूसरे किसी उपाय से नहीं। अंग्रेजी का मशहूर नाट्यकार शैक्सपीयर एक जगह लिखता है "प्रसन्न हृदय दिन-भर चलता रहता है, जबकि पाप का उदास हृदय एक मील से ही थक जाता है।"

(२) साफ़ हवा फेफड़ों के लिए बहुत जरूरी है। घर खुले और हवादार होने चाहिएं, जिससे धूप हवा खूब आसके। गांवों के आदमी, यद्यपि दिन भर खेतों की खुली हवा में काम करते हैं, लेकिन उनके घर और खासकर उठने-सोने के कमरे बिल्कुल बन्द होते हैं, जिनमें एक भी खिड़की और रोशनदान नहीं होता शहरों में, जहां बाहर की खुली हवा नसीब नहीं होती, तपैदिक आदि गन्दी बामारियां इसीलिए होती हैं। कपड़े इतने ज्यादा नहीं पहनने चाहियें कि शरीर को हवा भी न लग सके। खद्दर के कपड़े तन्दुरुस्ती के ख्याल से बहुत अच्छे होते हैं। शुद्ध हवा में गहरी सांस लेने का अभ्यास करना चाहिए। एक डाक्टर का कहना है कि "हर रोज एक मनुष्य को चालीस से लगाकर पचास घनफुट तक हवा की जरूरत होती है।" हमारे पूर्वजों ने प्राणायाम पर इसी लिए खास जोर दिया था।

(३) साफ़ हवा की भांति साफ़ पानी भी बहुत जरूरी चीज है। गांव में इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता। गांवों के कुए बिना ढके होते हैं फिर उनके पास लोग टट्टी पेशाब करते भी संकोच नहीं करते। इससे पीने का पानी गन्दा हो जाता है। बहुत से गांवों में जहां तालाब का पानी पीने के काम में भी आता है,

लोग तालाब में ही मैले कुचैले कपड़े धोते हैं । ऐसे तालाबों के पानी से कई रोग पैदा हुआ करते हैं । घरमें भी पानी साफ़ बरतनों में ढक कर रखना चाहिए । किसी-किसी मौके पर पानी औटाकर पीना पड़ता है । रोज अच्छी तरह नहाने से कई रोग नहीं होने पाते । हमारे यहाँ कहा है "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति ।" (पानी से शरीर शुद्ध होता है)

(४) हवा और पानी के बाद तीसरी जरूरी चीज है धूप, बल्कि कई हालतों में तो धूप सबसे ज्यादा आवश्यक चीज है । सूरज की किरणों में रोग दूर करने की बड़ी शक्ति होती है । वह मनुष्य में स्फूर्ति और उत्साह का संचार करती है । स्वेद स्नान" से भी कई रोग दूर होते हैं ।

(५) भोजन के बारे में 'शुद्ध सात्विक और कम खाने' का नियम याद रखना चाहिए । मनुष्य के शरीर का आधार भोजन है । प्रत्येक अस्थि और प्रत्येक पेशी भोजन की ही बनी होती हैं । मनुष्य के मन और आत्मा पर भी भोजन का कम प्रभाव नहीं पड़ता । कहा है—" अन्नमयं हि मनः" । भोजन सादा होना चाहिए । बहुत भारी, चटपटा और नशीला भोजन शरीर के लिए जहर का काम करता है । चाय, काफ़ी, तमाखू आदि चीजें, जो आजकल की सभ्यता का आवश्यक अंग बन गई हैं, बहुत नुक़सान देह चीजें हैं । दुनिया के मशहूर आविष्कारक एडिसन तमाखू के इतने खिलाफ़ थे कि सिगरेट पीने वाले किसी व्यक्ति को अपने यहां नौकर नहीं रखते थे । जर्मन और इटली के डिक्टेटर हिटलर व मुसोलिनी भी तमाखू नहीं पीते । माँसाहार शरीर में खट्टापन और जहर पैदा करता है । अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक अप्टन सिंक्लेयर के कहे अनुसार "शराब मनुष्य जाति के पैसे को बांधने वाला प्रकृति का सबसे बड़ा जादू है ।" डा० गुलिक के शब्दों में "नशे

अथवा उत्तेजक पदार्थों पर भरोसा करना एक धोखेबाज़ साथी पर भरोसा करना है।" म० गांधी हाथकुटे चावल, हाथपिसे आटे और हाथबने गुड़ आदि तथा कच्चे या सिर्फ उबाले हुए अनाज और सब्ज़ी आदि खाने की सिफ़ारिश करते हैं। इस विषय पर मैं तुम्हें सलाह दूंगा कि तुम कुछ नई पुस्तकें जरूर पढ़ो। मैं इस विषय का विशेषज्ञ भी नहीं हूँ और न यह पत्र इसके लिए ठीक स्थान ही है।

(६) नियमित कसरत करना भी स्वास्थ्य को उत्तम बनाने और जीवन को दीर्घ करने में सहायता करता है। कसरत करने से शरीर में हलकापन आजाता है, कार्य-शक्ति बढ़ती है, शरीर भरा हुआ और सुडौल होजाता है, कफ मेद आदि दूर होते हैं, जठराग्नि बढ़ती है, बदहज़मी तथा दूसरे रोग नहीं होते। व्यायाम के लिए देशी और विदेशी खेल दोनों हमारे यहाँ इस समय प्रचलित हैं। विदेशी कसरतें और खेलें काफ़ी खर्चीली होती हैं, वहां देशी खेल और व्यायाम बहुत सस्ते और सुगमता से किये जा सकते हैं।

(७) संयम या ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य-रक्षा के लिए लाजिमी है। वीर्य सातों धातुओं में सबसे श्रेष्ठ है। भोजन का सार वीर्यरूप में बनता है। इसके विनाश की हमारे स्मृतिकारों ने मृत्यु से उपमा दी है। "मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दुधारणात्" ब्रह्मचर्य नाश से स्वस्थ्य से स्वस्थ्य शरीर कुछ समय में नष्ट हो जाता है। चेहरे पर रूप लावण्य का नाम नहीं रहता, आंखों की ज्योति मलीन हो हो जाती है, शक्ति नष्ट होते-होते राज-रोग जैसे बड़े रोग हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य की कृपा से देवों ने मृत्यु को भी अपने वश में कर लिया था, यह कहावत निराधार ही नहीं है। ब्रह्मचर्य की रक्षा या संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए ज्ञानभाव से स्त्रियों का

दर्शन, स्पर्श, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सग इन आठ मैथुनों से अलग रहना हमारे नीति-नियमों में जरूरी माना गया है। दिन-रात विषयोत्तेजक और श्रंगाररस-प्रधान काव्य, नाटक, उपन्यास पढ़ने और सिनेमा व नाटक देखने वाले, खटाई मिर्च आदि का खुला प्रयोग करने वाले आजकल के अधिकांश कालेज के विद्यार्थियों से यह आशा भी नहीं हो सकता कि वह ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिता सकेंगे। मनुष्यमृति में तो ब्रह्मचर्य-पालन करने के लिये मद्य, मांस, गंध, रस, स्त्री, खटाई, श्रंगार(जो कि आजकल के फैशनेबल लोगों में बहुत चल पड़ा है , बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श आदि के त्याग और एकाकी शयन की सलाह दी गई है। भारत में भीषण रूप से प्रचलित बालविवाह ने हमार राष्ट्र के शारीरिक ह्रास में जितना भारी भार लिया है, उतना किसी दूसरी बुराई ने नहीं। संयम केवल ब्रह्मचर्य-आश्रम में ही नहीं, गृहस्थ-आश्रम में भी जरूरी है। स्वास्थ्य के और भी बीसियों नियम हैं. लेकिन उन सब की चर्चा करने का यहां स्थान नहीं है।

मानसिक उन्नति

शारीरिक उन्नति से ही मनुष्य पूर्ण नहीं होता एक आदर्श नागरिक बनने के लिए अपने मन और आत्मा को भी ऊँचा बनाना जरूर है। महान् स्मृतिकार मनु ने इस सम्बन्ध में योग दर्शन में बताये पाँच यमों और पाँच नियमों का निर्देश किया है। यम और नियम ये हैं :—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौच सन्तोष-तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० साधनपाद ३० और ३२ सूत्र)

इन दो छोटे-से सूत्रों में योगदर्शनकार पातञ्जलि ने गागर में सागर भर दिया है। मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक

उन्नति करने के लिए अद्भुत कुशलता के साथ सभी जरूरी नियमों का इन दो सूत्रों में समावेश किया गया है।

व्यक्तिगत उन्नति के लिए योगदर्शनकार ने पाँच नियम बताये हैं। शौच (बाह्य शुद्धि, जिसका उल्लेख मैं स्वास्थ्य के प्रसंग में कर आया हूँ, सन्तोष (पुरुषार्थ करते जाना और दूसरों की उन्नति देखकर ईर्ष्या न करना), तप कष्ट सहकर भी धर्मयुक्त नियमों व कर्तव्यों का आचरण, स्वाध्याय (शिक्षा और विविध विषयों का ज्ञान) और ईश्वर-प्रणिधान ईश्वर की भक्ति) से मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति होती है। इन पाँचों नियमों पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, लेकिन यह लिखने से पत्र बहुत लम्बा हो जायगा। इनपर जितना विचार करोगे, उतना ही ज्यादा इन गुणों की विशेषता स्पष्ट होती जायगी। मनु ने लिखा है कि केवल नियमों का ही पालन न करे। जो केवल नियमों का पालन करता है और यमों का पालन नहीं करता, वह भी पतित हो जाता है। यम ऐसे सामाजिक कर्तव्य हैं, जिनका पालन समाज की रक्षा के लिए भी जरूरी है। अधिकारों के प्रकरण में नागरिक के जिन-जिन अधिकारों का विचार किया गया है, उनकी रक्षा के लिए, समाज की व्यवस्था क़ायम रखने के लिए, इन यमों[1]

[1] यमान्सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ (अ० ४।२०४॥)

का पालन आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक को जीवित रहने देने और उसके शरीर की रक्षा के लिए समाज के सदस्यों में अहिंसा का गुण अनिवार्य है। समाज का कारोबार चलाने के लिए एक-दूसरे का विश्वास करना, जिसका आधार केवल सत्य ही नरहता है, जरूरी है। नागरिकों की सम्पत्ति तबतक सुरक्षित नहीं हो सकती, जबतक समाज के सदस्यों में अस्तेय (चोरी न करने) की

प्रवृत्ति न हो। स्त्रियों के सतीत्व—शारीरिक और चारित्रिक धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। आज संसार में पूँजीवाद ने जो भीषण समस्या पैदा कर रक्खी है—संसार की ज्यादातर सम्पत्ति थोड़े-से पूँजीपतियों ने हथिया रक्खी है, इसका हल अपरिग्रह के व्रत में है। इस यम का पालन करनेवाला पूँजीपति वन हीं नहीं सकता। उसके लिए अपनी आवश्यकता से अधिक लेना पाप है। जैनों के पाँच यम और बौद्धों के पाँच शील भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ यही सामाजिक धर्म हैं। हमारे पूर्वजों ने संसार के अनुभव तथा गम्भीर चिन्तन के बाद समाज के लिए जो नियम बताये हैं, वस्तुतः उनके पालन से संसार की बहुत-सी समस्यायें हल हो जाती हैं। मनु ने धर्म के दस लक्षण बताते हुए धृति (धैर्य), क्षमा (दूसरे का अपराध माफ़ कर देना), दम (आत्मसंयम), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (सफ़ाई—'सेनि-टेशन' और 'हाईजिन'), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को वश में करना), धी (बुद्धिपूर्वक आचरण), विद्या (शिक्षा-प्राप्ति), सत्य (मन, वचन और कर्म से सत्याचरण) और अक्रोध (क्रोध में अन्धा न होना) पर ज़ोर दिया है। ये दसों धर्म हैं—समाज का धारण करते हैं (धर्मो धारणात्); समाज की व्यवस्था क़ायम रखते हैं।

मैंने इस विषय पर प्राचीन स्मृतिकारों के उद्धरण दिए हैं, इसलिए इन्हें योंही उपेक्षा से मत देख जाना या आजकल के गलियों में फिरनेवाले कथावाचकों की चर्चा मत समझ लेना। असल में ये सामाजिक नियम हैं। यूरोपीय विद्वानों की विचार-प्रणाली भले ही हमसे भिन्न हो, लेकिन वे भी इससे भिन्न और ऊंचे निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। यद्यपि जोसेफ़ मैज़िनी ने मनुष्य के कर्तव्यों का प्रारम्भ ईश्वर के प्रति कर्तव्यों से किया है, और हमारे स्मृतिकारों ने भी मोक्ष को आदर्श माना है, तो भी

मैंने उसपर ख़ास ज़ोर नहीं दिया, क्योंकि मैं जापानी कवि ओर्मी आकुरा की इस कविता को बहुत पसन्द करता हूँ—

स्वर्ग को प्रकाशित करने के ढंग बहुत दूर हैं,
अब तु अपने पास की वस्तुओं पर ध्यान दे ।
हे मित्र तू अपने पार्थिव गृह की ओर ध्यान दे,
और अपने कर्तव्य को यहाँ पूर्ण करने का उद्योग कर ॥

मनुष्य की व्यक्तिगत आर्थिक उन्नति की चर्चा किसी और पत्र में करूँगा ।

: १५ :

मैं और मेरा परिवार

१०-५-३८

हमारे पुराने स्मृतिकारों ने समाज के चार भाग किये हैं — ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, और शूद्र। यजुर्वेद के एक मंत्र में ब्राह्मण को समाज के मुख से, क्षत्रिय को बाहु से, वैश्य को धड़ से और शूद्र को पैर से उपमा दी गई है। जिस तरह शरीर के ये चारों अंग भिन्न-भिन्न काम करते हुए भी उसके लिए एक से जरूरी हैं, उसी तरह समाजरूपी शरीर के लिए भी विभिन्न काम करने-वाले ये चारों विभाग लाज़मी हैं। मनुस्मृति में ब्राह्मण के कर्तव्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना बताए गए हैं; परन्तु एक दूसरे श्लोक में "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" कहकर दान लेने को क्षुद्रता भी कहा गया है। भगवद्गीता में शम [मनका बुरे विचारों की ओर से शमन], दम [इन्द्रियों पर नियंत्रण], तप (कष्टमय सहिष्णु जीवन), शौच (सफ़ाई), क्षान्ति (निन्दा, स्तुत, सुख-दुःख आदि का ख्याल करना), आर्जव (कोमल व सरल स्वभाव), ज्ञान-विज्ञान (अध्यात्मिक और आधिभौतिक विद्याओं का अध्यन) और आस्तिक्य (ईश्वरनिष्ठा) ब्राह्मण के गुण बताए गये हैं। ब्राह्मण

१. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् (मनु० १—८८)

२. शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥(गीता अ०१८-४२)

समाज का मस्तिष्क और मुख (mouthpiece) है। यह समाज

को अपने साहित्य, अपने उपदेश और अपने आचरण द्वारा प्रेरणा कर सकता है। इस नेतृत्व के लिये उसमें इन गुणों का विकास जरूरी है।

क्षत्री के कर्तव्य मनु ने प्रजा की रक्षा, सुपात्रों को दान, यज्ञ, अध्ययन और विषयों का अप्रसंग (संयत जीवन) बताये हैं। गीता ने क्षत्रिय के लिये जिन गुणों का होना जरूरी बताया है, वे ये हैं—बहादुरी, तेज, धैर्य व्यवहार-कुशलता, युद्ध से न भागना, दान देना, और राज्य शासन करने की शक्ति। देश का शासन और रक्षण करने वाले वर्ग में, चाहे आप उसे किसी नाम से बुलाइए, इन गुणों का विकास आवश्यक है। इन गुणों के बिना वह देश का ठीक तरह से शासन और रक्षण नहीं कर सकता।

स्मृतिकार मनु की सम्मति में पशुओं का पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन व्यापार महाजनी तथा खेती वैश्य के कर्तव्य हैं। इसी को गीता में "कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्" कहकर दोहराया गया है। शूद्र का कर्तव्य मनु और भगवान् कृष्ण ने इन तीनों वर्णों की सेवा बताया है।

वर्णव्यवस्था प्राचीन काल में गुण कर्म और स्वभाव से मानी

१. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु० १। ८९।)

२. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (गीता १८-४३)

३. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

जाती थी, न कि जन्म से जैसा कि गीता में योगिराज कृष्ण कहते हैं "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मस्वभावशः"। जब से हिन्दूसमाज ने इसे जन्मसे बांध दिया तबसे इन गुणों और कर्मों

की ओर किसीका ध्यान न रहा, क्योंकि जब अपना जीवन बनाने का प्रयत्न किये बिना ही ब्राह्मणत्व मिल जाय, तब कोई क्यों पढ़ने-पढ़ाने, तप करने का कष्ट करे? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विभाग प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज में रहते हैं, भले ही उन्हें कोई नाम दिया जाय। जबतक यह व्यवस्था संगठित और शुद्ध रहती है, सब वर्णों को अपने-अपने कर्तव्यों और गुणों का ध्यान रहता है, समाज का काम ठीक तौर से चलता रहता है। लेकिन जहाँ यह व्यवस्था बिगड़ जाती है, वर्ण, जोकि समाज के नागरिक हैं, अपना-अपना काम छोड़ देते हैं, अपनी-अपनी जिम्मेदारियाँ नहीं समझते, वहाँ सारे समाज की व्यवस्था बिगड़ जाती है।

लेकिन तुम भी कहोगे कि आजकल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि के शब्द तो भूतकाल की वस्तु हो गये हैं। आज के समाज में यह श्रेणी-विभाजन नहीं है। बीसवीं सदी में इन वर्णों की चर्चा शोभा नहीं देती और फिर तुम जैसे वर्तमान सदी के विचारों से भली-भाँति परिचित पुराणपन्थिता की बातें करें, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। ठीक है, मैं तुम्हारे मनोभावों को समझ सकता हूँ। वर्ण-व्यवस्था को जन्म से बाँधने के कारण वह बदनाम हो गई है और आजकल के शिक्षितों में उसके प्रति घृणा या उदासीनता पैदा होना स्वाभाविक है। लेकिन थोड़ा-सा विचार करने से आजकल प्रचलित सब पेशों को इन चारों वर्णों में बाँटा जा सकता है। विभिन्न पेशों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो-चार बातें यदि हम ध्यान में रखलें, तो हमें अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता न पड़ेगी :

समाज का प्रत्येक सदस्य जो भी काम करता है, उसका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से समाज पर जरूर पड़ता है। इसलिए हरेक

व्यक्ति के कर्तव्य की एक कसौटी यह है कि वह कोई ऐसा काम न करे, जिससे दूसरे की हानि हो। इसमें कई मौक़ों पर अपवाद अवश्य आ जाते हैं—जैसे चोर को अदालत दण्ड देती है; व्यभिचारी का समाज बहिष्कार करता है और हत्या करनेवाले को फाँसी मिलती है; लेकिन ऐसे कार्य उससे बड़े समाज के हित के लिए जरूरी हैं। अपनी मानसिक और आत्मिक उन्नति के सिवा भौतिक उन्नति के लिए भी लगन, अध्यवसाय ईमानदारी, दृढ़ संकल्प आदि गुणों की जरूरत है। कोई पेशा हो, चाहे वह खेती हो या मजदूरी, इंजिनीयरी हो या अध्यापना शासन-प्रबन्ध हो या सफ़ाई, सभी कामों में उन्नति की पूरी गुंजाइश है। कोई काम छोटा नहीं है। सभी काम जो समाज के लिए आवश्यक हैं एकसमान हैं। किसी कार्य में छुटपन अनुभव न करना, उनमें सुधार और उन्नति की पूरी कोशिश करना, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। संसार के बड़े-बड़े आविष्कार ऐसे ही ईमानदार महापुरुषों की सूझ, लगन और अध्यवसाय के परिणाम हैं। इञ्जन के आविष्कार का विचार एक कारखाने के एक मजदूर को ही सबसे पहले सूझा था।

प्राचीन व्यवस्था के अनुसार आश्रम-व्यवस्था व्यक्तिगत धर्म का पालन है और वर्णव्यवस्था सामाजिक उन्नति के लिये आवश्यक व्यक्तिगत कर्तव्यों के पालन के लिये है।

मैं यह पत्र लिखने तो बैठा था पारिवारिक कर्तव्य के सम्बन्ध में' लेकिन पिछले पत्र की व्यक्तिगत कर्तव्य-संबंधी चर्चा पर ही इतना लिख डाला। जैसे मेरे अपने प्रति कर्तव्य हैं, उसी तरह से अपने परिवार के प्रति भी मेरे कर्तव्य हैं। ब्रह्मचारी के सामने अपनी व्यक्तिगत उन्नति ही आदर्श होता है, लेकिन गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वह अपने व्यक्तित्व का दायरा कुछ विस्तृत कर लेता है

अपने शरीर और आत्मा की उन्नति से संतुष्ट न होकर अपनी पत्नी, अपने बाल-बच्चे और भाई-बहन आदि परिवार के सब सदस्यों में आत्मबुद्धि अनुभव करने लगता है। यह उसका विकास है। समाज में परिवार का एक विशेष स्थान है। परिवार समाज या संगठन की सबसे छोटी इकाई है। परिवार सामाजिक या नागरिक शिक्षा का पहला स्कूल है। यह सबसे छोटा समूह है जहाँ मनुष्य अपनेसे भिन्न कुछ व्यक्तियों के लिये त्याग करता है, अपने सुख की अपेक्षा वह अपने बाल-बच्चों, अपनी पत्नी आदि के सुख को अहमियत देता है। स्त्री और पुरुष परस्पर काम वासना और व्यक्तिगत प्रेम के कारण एक-दूसरे के प्रति खिंचते हैं और उनके प्रेम की ज़मानत उनकी सन्तान है।

कुछ विचारकों के खयाल से परिवार मनुष्य के और अधिक सामाजिक विकास मे रुकावट डालता है। मनुष्य अपने और अपने परिवार की सेवा में मस्त होकर समाज को भूल जाता है, इसलिए परिवार की प्रथा को नष्ट कर देना चाहिए। लेकिन यह एक भ्रम है। योंतो हरेक वस्तु का भी दुरुपयोग किया जा सकता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं की वह वस्तु ही निरुपयोगी और नुक्सानदेह है। परिवार केवल विषयभोग का साधन नहीं, वह तो आत्मिक विकास की एक सीढ़ी है। मनुष्य समाज की रचना है, इस आश्रम के द्वारा वह समाज के इस ऋण को चुकाने की कोशिश करता है।

परिवार में पति-पत्नी बाल-बच्चे तथा छोटे भाई-बहन होते हैं। पति का कर्तव्य है कि पत्नी को भोग-विलास की सामग्री न समझकर उसे अपनी जीवन-यात्रा की सहचरी समझे। हिन्दू-शास्त्रों में उसे अर्धाङ्गिनी कहा गया है। किसी भी अच्छे काम में, जिसे हमारे पूर्वज 'यज्ञ' का नाम देते थे, स्त्री की उपस्थिति

जरूरी थी, क्योंकि दोनों मिलकर समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं। राम को यज्ञ के लिए सीता के अभाव में उसकी प्रतिमा जरूर रखनी पड़ी। पति स्त्री के सुख और इच्छाओं का आदर करे और पत्नी उसे सुख पहुंचाने की कोशिश करे। एक-दूसरे के सुख-दुख में साथी हों। आपस में अधिकार की भावना के बजाय कर्तव्य की भावना प्रधान हो। मनुस्मृति ने आदर्श घर का वर्णन करते हुए लिखा है—सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ दोनो एक-दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण का भाव रक्खें। समाज और जीवन में किस का महत्त्व अधिक है यह कहना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि जीवन में दोनो जरूरी हैं दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। "स्त्री में पत्नी और माता होने के कारण स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है, तो पुरुष में पति और पोषक पिता होने के कारण तेज, पुरुषार्थ और व्यवसाय की प्रधानता है; दोनों मिलकर पूर्ण बनते हैं। स्त्री उत्साह और जीवन देती है; पुरुष रक्षा करता, आगे बढ़ता, कठिनाइयों को मिटाता, संकटों को चीरता और सफलता पाता है। स्त्री समाज की सेविका है और पुरुष समाज का सिपाही।"

बालक किसी देश के भावी नागरिक हैं। इस दृष्टि से यदि हम उनके शारीरिक, मानसिक विकास की ओर ध्यान दें, हम उन्हें निरे बालक ही न समझें उनके मनोभावों का भी आदर करें, खेल-कूद आदि की पूरी सुविधायें उन्हें पहुंचायें, तो बालकों का [illegible] मुमकिन है। बालक अनुकरणशील होता है। इसलिए माता-पिता आदि को खुद भी ऐसे काम न करने चाहिएं, जिनसे उनके दिल पर बुरा असर पड़े। उत्तम [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] सबसे बड़ी और उत्तम विरासत है [illegible]

राज्य और समाज के लिए छोड़ सकता है। बच्चे के लालन पालन शिक्षा-दीक्षा और चाल-चलन की ओर सदा सावधान रहना चाहिए। बालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना, घर का दीपक और समाज की आशा होता है। वह एक ऐसा विशुद्ध दर्पण होता है, जिसपर किसी भी मैल का असर एकदम पड़ जाता है। इस लिए उसे शहर के गन्दे दूषित वातावरण से, जहाँ गालियों और सिनेमा के अश्लील गानों के सिवा कोई अच्छी चीज़ नहीं सुनाई देती, बचाने की कोशिश करनी चाहिए।

"खून पानी से गाढ़ा होता है।" इसलिए रक्त-सम्बन्ध के सम्बंधी माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, मामा आदि के प्रति भी मनुष्य के कुछ फ़र्ज़ हैं। माता-पिता का ऋण तो कभी चुकाया नहीं जा सकता। इनके प्रति नम्रता और अहसानमन्दी का व्यवहार करना चाहिए। मनु ने अभिवादनशील और वयोवृद्धों की सेवा करनेवाले को विद्या, यश, आयु और बल की प्राप्ति का फल लिखा है (२-१२१)। माता वात्सल्य की प्रतिमा है, उससे यह गुण सीखकर समाज के प्रति अपने अमल में लाना चाहिए। वृद्ध-जनों की विचार-दिशा सदा युवकों से भिन्न होती है, इसलिए उन्हें दोष कभी नहीं देना चाहिए। उम्र के साथ यह स्वाभाविक है। आज के युवक भी जब वृद्ध होंगे, उन्हें भी यह अनुभव होगा। भाई-बहन एक ही माता की सन्तान हैं। उनके लिए भी अपना स्नेह उसी तरह रखना चाहिए। अन्य सम्बंधियों का सुख और हित भी हरेक को देखना चाहिए।

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि परिवार बन्धन न होकर एक ऐसा स्कूल होना चाहिए, जहाँ हम सहिष्णुता, प्रेम, सेवा, त्याग, दान और उद्यमशीलता के गुण सीखकर समाज की सेवा के लिए तैयार हो सकें। इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे, जब

लोगों ने देश के हित के लिए पारिवारिक सुख का बलिदान कर दिया है। हज़ारों परिवार—पति-पत्नी और बच्चे १९३०-३१ के भारत के सत्याग्रह-संग्राम में पारिवारिक सुख को लात मारकर एकसाथ कूद पड़े। यह सिद्ध करता है कि परिवार केवल बंधन नहीं है।

१६

शहर या गाँव का इन्तज़ाम

१२—८—३८

पिछले दो पत्रों में मैंने मनुष्य के अपने और अपने परिवार के प्रति कर्तव्यों पर कुछ विचार प्रकट किये थे। परिवार के साथ मेरा या किसी भी मनुष्य का प्राणि-विज्ञान-सम्बन्धी रक्त का सम्बन्ध है, परन्तु इससे अगली संस्था, जिससे मेरा नागरिक सम्बन्ध है, बिलकुल ही जुदी तरह का है। वह अपने रूप और कार्यक्षेत्र में देशीय तथा राजनैतिक है। यह संस्था मेरा गाँव या नगर है और यही राजनैतिक संगठन की पहली संस्था है। यहाँ मनुष्य पारिवारिक रूप में—माता, पिता, भाई या बहन के रूप में सदस्य न होकर नागरिक के रूप में उसका सदस्य है। नागरिकता का यह बन्धन ही मनुष्य को सभ्यता के पद पर बिठाता है। 'सिविक्स' (नागरिकशास्त्र) और सिविलाइजेशन (सभ्यता) एक ही शब्द से बने हैं, इसीलिए कुछ विद्वान् सिविक्स को सभ्यता का विज्ञान भी कहते हैं। मनुष्य के कार्य का दायरा ग्राम या नगर है। मनुष्य पृथ्वी के इस छोटे-से भाग से, जहाँ वह पैदा हुआ है या जहाँ वह बरसों रहकर उसे अपना घर मानने लगा है, प्रेम करने लगता है। इस गाँव या 'राजनैतिक घर' को बनानेवाले सभी सड़कों, खेतों, चरागाहों, पहाड़ियों और नदियों से भी उसे खुद ही प्रेम होजाता है। इस गाँव या नगर के प्रबन्ध में भी उसकी दिलचस्पी होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसके सारे जीवन और जीवन से ताल्लुक़ रखनेवाली छोटी-छोटी बातों पर ग्राम के इन्त-ज़ाम का असर पड़ता है। मैंने पिछले पत्रों में नागरिक के शासना-

धिकार का विचार किया है। मनुष्य जिस समाज का अंग है, उसके इन्तज़ाम में भी उसका भाग ज़रूरी होना चाहिए; नहीं तो मुमकिन है कि वह समाज उसके अधिकारों और हितों की उपेक्षा करने लगे। गाँव या शहर वह सबसे छोटी इकाई है, जो नागरिक के जीवन पर सबसे ज्यादा गहरा असर डालती है। गाँव या शहर का शासन भी सब लोग मिलकर नहीं कर सकते, इसलिए वहाँ के निवासियों के प्रति-निधियों की एक कमेटी पर यह काम सौंप दिया दिया जाता है। इसे आजकल 'म्युनिसिपल कमेटी' कहते हैं। पहले हिन्दुस्तान में इसे ही 'पंचायत' कहते थे। आज भी बहुत-से गाँवों में पंचायतें गाँव का प्रबन्ध करती हैं। सिविक्स या नागरिक-शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि ग्रामपंचायतों या म्यूनिसिपल कमेटियों के शासन-प्रबन्ध में ऊपरी सरकार की कम से-कम दस्तन्दाज़ी हो। इस हस्तक्षेप का मतलब है जनता के अधिकारों पर हमला। पंचायतों या म्युनिसिपल कमेटियों को यथासम्भव ज्यादा अधिकार देने का नतीजा यह होता है कि पंचायतें या म्युनिसिपल कमेटियों के, जिन्हें 'स्थानीय शासन-संस्था' कहा जाता है, सदस्य अपने 'राजनैतिक घर' के प्रबन्ध में खूब दिलचस्पी ले सकते हैं। भारतीय पंचायतों के इसी गुण का भारतीय जनता पर कितना गहरा असर पड़ा, यह सर जार्ज बर्डवुड के नीचे लिखे उद्धरण से मालूम होगा :—

"भारत में जितनी धार्मिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ हुई हैं, उतनी संसार के दूसरे किसी देश में नहीं हुईं। परन्तु यह होते हुए भी ग्राम-संस्थाओं की अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, वे उसी उत्साह और शक्ति के साथ काम करती रहीं। सीरियन, ग्रीक, स्का-सीन, अफ़गान, मुगल और मरहठे आये तथा पोर्चुगीज़, अंग्रेज़, फ्रेंच और डैन समुद्र की तरफ से आये और यहाँ अपना अधिकार

जमा लिया। परन्तु उनके आने और चले जाने से यहां की धार्मिक और व्यापारिक ग्रामसंस्थाओं पर उतना ही प्रभाव पड़ा, जितना कि एक चट्टान पर लहरों के आने और चले जाने का पड़ता है।"

सर चार्ल्स मेटकाफ़ के शब्दों में "यही ग्राम-संस्थायें, जिनमें से प्रत्येक पृथक राज्य की तरह हैं, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक कारण है। इन्हीं के जरिये सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की हिफ़ाजत होती रही। उनको जो कुछ प्रसन्नता स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उनमें सबके लिये यही सबसे अधिक सहायक है।"

अलग-अलग भौगोलिक परिस्थिति, भिन्न-भिन्न संस्कृति' रहन सहन, भाषा और जुदे-जुदे न्याय-धन्धे आदि के कारण प्रान्त, जिला या ग्राम की जरूरतें और समस्यायें भी अलग-अलग होती हैं। उनमें सारे देश के प्रतिनिधियों को कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती उनका देश द्वारा नियंत्रण तो स्थानीय जनता पर अत्याचार ही है। केवल स्थानीय लोग ही अपने मामलों में दिलचस्पी लेते हैं इसी लिए स्थानिक शासनसमिति या पन्चायत की स्वतंन्त्र सत्ता आवश्यक है, जो स्थानीय समस्याओं को हल करे। स्थानीय मामलों में इन्हें काफी अधिकार देना भी इसीलिए जरूरी है कि ये जरूरत के मुताबिक अपना इन्तज़ाम खुद करलें। फ़िर स्थानीय आवश्यकताओं के लिये दूर के लोग क्यों टैक्स दें? हरेक अपने आराम के लिये तो टैक्स आसानी से देता है, लेकिन सहारनपुर ज़िले का रहने वाला बनारसी नागरिक की प्याऊ या डिस्पेंसरी के लिये क्यों टैक्स से लादा जाना पसन्द करेगा?

हरेक नागरिक को यह महसूस करना चाहिए कि वह अपने गांव या शहर की प्रबन्ध कमेटी का एक लाज़िमी अंग है। उसे

अपने गांव या शहर की हरेक बात में पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिये जबतक आम जनता इन बातों में दिलचस्पी लेती है, तबतक स्थानीय प्रबन्ध भी ठीक चलता है। जहाँ आम लोगों ने दिल-चस्पी लेनी बन्द की वहां कुछ थोड़े से लोग जिनके हाथ में इन्त-जाम का काम होता है, अपने-अपने स्वार्थ के साधन में लग जाते हैं शहर की हरेक घटना या नियम में हरेक नागरिक की सम्मति लेना नामुमकिन होता है, इसलिये लोगों के नुमाइन्दों की कमेटी को ये काम सुपुर्द कर दिये जाते हैं। लेकिन इसमें आम नागरिकों का कर्तव्य खत्म नहीं हो जाता। उनका सबसे पहला फर्ज यह है कि वह अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में पूरी दिलचस्पी लें। आज कल चुनाव के तरीकों में कुछ ऐसी खराबियां आगई हैं, जिनसे चुनाव ही फ़िजूल सा हो जाता है। चुनाव के समय नागरिकों को नीचे लिखी बातों का खूब ध्यान रखना चाहिये:—

१—उम्मीदवार योग्य और व्यवहार-कुशल हो शहर की सब सम्बद्ध समस्याओं से परिचित हो।

२—उम्मीदवार में खुदगरजी बनिस्बत दूसरे का भला करने या जन-सेवा का भाव ज्यादा हो।

३—उम्मीदवार में जातिगत भावना न हो। जो उम्मीदवार या दूसरी जाति के साम्प्रदायिक भावों को भड़काकर वोट पाना चाहता है, वह अपने शहर का बहुत बड़ा दुश्मन है। जो व्यक्ति पैसा या दूसरे लालच देकर वोट लेने की कोशिश करता है, वह पापी है; जरूर वह कमेटी में स्वार्थसिद्धि के लिए जाना चाहता है। वह न केवल अपना स्वार्थ-साधन करता है, बल्कि वह नाग-रिकों के चारित्रिक पतन का भी जिम्मेदार है। बहुत-से नागरिक दो-चार या दस रुपये लेकर किसी अयोग्य उम्मीदवार को वोट दे देते हैं। ऐसे लोग दर असल देशद्रोह या देश के साथ विश्वासघात

जैसा पाप करते हैं। उन्होंने दो-चार या दस रुपये में अपने गाँव या शहर का हित बेच दिया। अगर वे किसी योग्य ईमानदार उम्मीदवार को वोट देते, तो वह स्वार्थ के बजाय शहर या गाँव के हित को तरजीह देता। एकबार निकम्मे' खुदगर्ज और अयोग्य व्यक्तियों को पंचायत में भेजकर नया चुनाव आने तक—तीन-चार साल तक—नागरिकों को पछताना पड़ता है। न शहर की सफ़ाई होती है, न रोशनी का ठीक इन्तज़ाम होता है और न बच्चों की पढ़ाई ही ठीक होती है। वोट का हक़ एक ऐसी पवित्र धरोहर है, जिसे समाज ने सदियों की लड़ाई के बाद हासिल किया है और प्रत्येक नागरिक को इसलिए सौंपा है कि वह उसका समाज के फ़ायदे के लिए उपयोग करे। उसका दुरुपयोग पाप है सब उन्नत सभ्य देशों में बालिग मात्र को वोट देने का अधिकार होता है। किसी किसी देश में एक ख़ास उम्र के बाद वोट देने का अधिकार मिलता है। रूस, टर्की और अर्जेण्टाइन में १६, जर्मनी और स्विट्ज़र-लैण्ड में २०, अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और भारत में २१, नार्वे में २३. डेनमार्क और जापान में २५ साल की उम्र में वोट देने का अधिकार है। बहुत से-देशों में अब-तक भी बालिग मात्र को मताधिकार न देकर शिक्षा और सम्पत्ति की योग्यता पर अधिकार दिया जाता है। बद-क़िस्मती से अभी तक हिन्दुस्तान भी इसी श्रेणी में है। इस सम्बन्ध में कुछ विवेचन मैं अपने पिछले एक पत्र में कर चुका हूँ। बहुत-से नागरिक चुनाव के समय अपना मत ही नहीं देते, वे उदासीन हो जाते हैं। लेकिन यह उदासीनता भी एक पाप है, क्योंकि इसका अर्थ है समाज के उस अधिकार या कर्तव्य का प्रयोग न करना, जो हरेक नागरिक को सौंपा गया है। आम लोगों के दिलचस्पी न लेने का नतीजा यह होगा कि स्वार्थी लोग पंचायत या कमेटी में घुस आयेंगे। कई देशों में इसीलिए मत देना लाज़मी बना दिया गया

है और मत न देनेवाले को सज़ा दी जाती है। आस्ट्रेलिया में वोट न देने पर जुर्माना देना पड़ता है। चेकोस्लोवाकिया, कनाडा और आरजेण्टाइन में भी मत देना अनिवार्य किया गया है।

स्थानीय स्वराज्य, जिसे अंग्रेजी में 'लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट' कहते हैं, गाँवों और शहरों की आबादी के अनुसार जुदे-जुदे भागों में बटा हुआ होता है। हिन्दुस्तान में इसे दो भागों में बाँटा गया है, देहाती और शहरी। देहाती शासन को भी पंजाब में तीन भागों में बाँटा गया है। गाँवों में पंचायत, तहसील या सब-डिवीज़न में लोकल बोर्ड, ज़िले में ज़िला-बोर्ड पर स्थानीय शासन की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। ये तीनों संस्थायें देहात में ही काम करती हैं। शहरी शासन भी छोटे-बड़े शहर के ख़याल से तीन हिस्सों में बंटा होता है—छोटे क़स्बों में नोटिफ़ाइड एरिया, बड़े क़स्बों या शहरों में म्युनिसिपल कमेटी और बहुत बड़े शहरों में कारपोरेशन।

इन सब संस्थाओं में ज्यादातर सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं और कुछ सरकार द्वारा नामज़द होते हैं। प्रजातंत्र के उसूल के अनुसार सरकार का यह हस्तक्षेप भी अनुचित है। कई प्रान्तों की नई काँग्रेसी सरकारें नामज़द करने की प्रथा को हटा भी रही हैं और शायद कुछ सालों में सारे देश में स्थानीय स्वराज सम्बन्धी मामलों में सरकार का हस्तक्षेप और भी कम हो जायगा। प्रायः सब संस्थाओं को अपना ग़ैरसरकारी अध्यक्ष चुनने का अधिकार होता है, यद्यपि अभीतक भी यह अधिकार पूरी तौर से इस्तेमाल में नहीं लाया जाता। पंचायतों का जितना प्रचार होना चाहिए अभी उतना नहीं हुआ है, और फिर पंचायतों को अधिकार भी बहुत कम हासिल हैं। इसका अर्थ यह है कि भारत के ९० फ़ीसदी लोगों को अभीतक भी स्थानीय स्वराज प्राप्त नहीं हुआ। लोगों को

जैसा पाप करते हैं। उन्होंने दो-चार या दस रुपये में अपने गाव या शहर का हित बेच दिया। अगर वे किसी योग्य ईमानदार उम्मीदवार को वोट देते, तो वह स्वार्थ के बजाय शहर या गाँव के हित को तरजीह देता। एकबार निकम्मे' खुदगर्ज और अयोग्य व्यक्तियों को पंचायत में भेजकर नया चुनाव आने तक—तीन-चार साल तक—नागरिकों को पछताना पड़ता है। न शहर की सफ़ाई होती है, न रोशनी का ठीक इन्तज़ाम होता है और न बच्चों की पढ़ाई ही ठीक होती है। वोट का हक़ एक ऐसी पवित्र धरोहर है, जिसे समाज ने सदियों की लड़ाई के बाद हासिल किया है और प्रत्येक नागरिक को इसलिए सौंपा है कि वह उसका समाज के फ़ायदे के लिए उपयोग करे। उसका दुरुपयोग पाप है सब उन्नत सभ्य देशों में बालिग मात्र को वोट देने का अधिकार होता है। किसी किसी देश में एक ख़ास उम्र के बाद वोट देने का अधिकार मिलता है। रूस, टर्की और अर्जेंण्टाइन में १६, जर्मनी और स्विट्ज़र-लैण्ड में २०, अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और भारत में २१, नार्वे में २३, डेनमार्क और जापान में २५ साल की उम्र में वोट देने का अधिकार है। बहुत से-देशों में अब-तक भी बालिग मात्र को मताधिकार न देकर शिक्षा और सम्पत्ति की योग्यता पर अधिकार दिया जाता है। बद-क़िस्मती से अभी तक हिन्दुस्तान भी इसी श्रेणी में है। इस सम्बन्ध में कुछ विवेचन मैं अपने पिछले एक पत्र में कर चुका हूँ। बहुत-से नागरिक चुनाव के समय अपना मत ही नहीं देते, वे उदासीन हो जाते हैं। लेकिन यह उदासीनता भी एक पाप है, क्योंकि इसका अर्थ है समाज के उस अधिकार या कर्तव्य का प्रयोग न करना, जो हरेक नागरिक को सौंपा गया है। आम लोगों के दिलचस्पी न लेने का नतीजा यह होगा कि स्वार्थी लोग पंचायत या कमेटी में घुस आयेंगे। कई देशों में इसीलिए मत देना लाज़मी बना दिया गया

है और मत न देनेवाले को सज़ा दी जाती है। आस्ट्रेलिया में वोट न देने पर जुर्माना देना पड़ता है। चेकोस्लोवाकिया, कनाडा और आरजेण्टाइन में भी मत देना अनिवार्य किया गया है।

स्थानीय स्वराज्य, जिसे अंग्रेज़ी में 'लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट' कहते हैं, गाँवों और शहरों की आबादी के अनुसार जुदे-जुदे भागों में बटा हुआ होता है। हिन्दुस्तान में इसे दो भागों में बाँटा गया है, देहाती और शहरी। देहाती शासन को भी पंजाब में तीन भागों में बाँटा गया है। गाँवों में पचायत, तहसील या सब-डिवीज़न में लोकल बोर्ड, जिले में ज़िला-बोर्ड पर स्थानीय शासन की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। ये तीनों संस्थायें देहात में ही काम करती हैं। शहरी शासन भी छोटे-बड़े शहर के ख़याल से तीन हिस्सों में बँटा होता है—छोटे क़स्बों में नोटिफ़ाइड एरिया, बड़े क़स्बों या शहरों में म्युनिसिपल कमेटी और बहुत बड़े शहरों में कारपोरेशन।

इन सब संस्थाओं में ज्यादातर सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं और कुछ सरकार द्वारा नामज़द होते हैं। प्रजातंत्र के उसूल के अनुसार सरकार का यह हस्तक्षेप भी अनुचित है। कई प्रान्तों की नई काँग्रेसी सरकारें नामज़द करने की प्रथा को हटा भी रही हैं और शायद कुछ सालों में सारे देश में स्थानीय स्वराज सम्बन्धी मामलों में सरकार का हस्तक्षेप और भी कम होजायगा। प्रायः सब संस्थाओं को अपना गैरसरकारी अध्यक्ष चुनने का अधिकार होता है, यद्यपि अभीतक भी यह अधिकार पूरी तौर से इस्तेमाल में नही लाया जाता। पंचायतों का जितना प्रचार होना चाहिए अभी उतना नहीं हुआ है, और फिर पंचायतों को अधिकार भी बहुत कम हासिल हैं। इसका अर्थ यह है कि भारत के ९० फ़ीसदी लोगों को अभीतक भी स्थानीय स्वराज प्राप्त नहीं हुआ। गाँवों में

सरकारें इस दिशा में क़दम बढ़ा रही हैं, यह तुमसे छिपा नहीं है। इन पंचायतों के ज़िम्मे जहाँ काम बहुत-से होंगे, वहाँ इनके अधिकार भी बहुत-से होंगे। गाँव की सफ़ाई, शिक्षा, रोशनी और छोटे-छोटे मुक़दमे सुनना पंचायतों का काम है और इसके लिए उन्हें थोड़ा-बहुत टैक्स वसूल करने का अधिकार भी होता है।

तहसील के छोटे-छोटे गाँवों में, जहाँ पंचायतें नहीं होतीं, सफ़ाई, रोशनी आदि का काम लोकल बोर्डों के सुपुर्द किया जाता है, लेकिन वस्तुतः जिला-बोर्ड व पंचायत के बीच की एक शृंखला मात्र होने की वजह से ये बोर्ड महत्त्व प्राप्त नहीं कर सके। जिला बोर्ड, जो ज़िले के सब गाँवों का प्रबन्ध करता है, काफ़ी महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसमें सारे ज़िले के प्रतिनिधि होते हैं। आजकल के प्रतिनिधियों को दरअसल ज़िले का सच्चा प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये मतदाताओं के अज्ञान से लाभ उठाकर या उनपर अनुचित दबाव डालकर चुने गये होते हैं। ज़िला-बोर्ड के पास नीचे लिखे काम होते हैं:—

सड़कों और छोटे-छोटे रास्तों का बनाना व मरम्मत—स्कूल और शफ़ाख़ाने—सड़कों पर दरख़्त लगाना—खेती के लिये बाँध, पुल, नहरें, कुएँ और तालाब बनवाना—विवाह, जन्म और मृत्यु का रजिस्टर रखना—दस्तकारी तथा खेती को प्रोत्साहन—अकाल के समय लोगों को सहायता—प्लेग, हैज़ा, चेचक आदि रोगों के निवारण का इन्तज़ाम—यात्रियों के लिए सरायें बनवाना—पशुओं की नस्ल में सुधार वग़ैरह। इन कामों को करने के लिए ज़िला-बोर्ड स्थानीय कर, विद्यार्थियों की फ़ीस, दरख़्तों की आमदनी, पुलों आदि के ठेके, हैसियत टैक्स आदि से पैसा वसूल करता है।

जुदे-जुदे प्रांतों में ये देहाती स्वराज संस्थायें जुदा-जुदा प्रकार से बँटी हुई हैं। कहीं तीन प्रकार के बोर्ड हैं—ग्राम, तहसील

और ज़िला, तो बम्बई में सिर्फ़ ज़िला बोर्ड व ताल्लुका बोर्ड ही हैं। किसी-किसी प्रान्त में ज़िला बोर्ड को ही ज़िला कौंसिल भी कहते हैं।

नोटिफ़ाइड एरिया कमेटी छोटे शहरों के प्रबन्ध के लिए सफ़ाई, स्वास्थय और शिक्षा का काम करती है। बाज़ारों, गली-कूचों, नालियों और कुओं का बनाना मरम्मत करना और श्मशान व कब्रिस्तान आदि की व्यवस्था भी इसीके ज़िम्मे होती है।

म्युनिसिपल कमेटी के कर्तव्य इस प्रकार के होते हैं:—

शहर की सफ़ाई—पानी के लिए वाटरवर्क्स—रोशनी—हस्पताल खोलना—महामारियों का रोकना—गन्दे पानी के निकास के लिए नालियाँ बनवाना—स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय खोलना—श्मशान व कब्रिस्तान की देख रेख—मकानों का बनवाना—ताँगों और मोटरों की देखरेख—आग बुझाने का प्रबन्ध—ख़तरनाक इमारतों का गिराना—लोगों के मनोरंजन के लिए बाग़ आदि बनवाना—सड़कों का निर्माण व मरम्मत। म्युनिसिपल कमेटी को अपना ख़र्च निकालने के लिए कई प्रकार के टैक्स लगाने के भी अधिकार हैं। इनमें से ख़ास-ख़ास ये हैं:—

शहर में आनेवाले सामान पर चुंगी—हाउस टैक्स—पानी के नलों पर महसूल—ताँगों व मोटरों का टैक्स—रोशनी का टैक्स—दरख़्तों की आमदनी आदि। कारपोरेशन सारे हिन्दुस्तान में सिर्फ़ चार शहरों—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और रंगून में ही हैं। इन्हें बहुत अधिकार होते हैं।

ब्रिटिश भारत में सब म्युनिसिपैलिटियों व कारपोरेशनों की संख्या १९२१-२२ में ७८७ थी। (इनके बाद के आंकड़े नहीं मिल सके।) इनके कुल सदस्य [illegible] थे जिनमें से [illegible] सरकारी [illegible]

नामज़द थे। उक्त वर्ष इनकी आमदनी (कर्ज़ मिलाकर ३४ करोड़ रुपया थी। लेकिन बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की २२ करोड़ की आमदनी निकालने से बाक़ी ७२४ म्युनिसिपैलिटियों की आय सिर्फ १२ करोड़ रह जाती है। कुछ बड़े शहरों में उन्नति या सुधार के लिए इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट भी बनाये गये हैं। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, कराची आदि बन्दरगाहों का स्थानीय प्रबन्ध करने के लिए पोर्ट ट्रस्ट भी बनाये गये हैं, लेकिन उनपर जनता का नियंत्रण बहुत कम है। इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट भी ज्यादातर सरकारी नियंत्रण में काम करते हैं। म्युनिसिपैलिटियों की भी हालत बहुत अच्छी नहीं है। बहुत कम म्युनिसिपल कमेटियाँ सरकार के नाजायज़ दबाव से अपनेको बचा पाती हैं।

यदि तुम दूसरे उन्नत राष्ट्रों की स्थानीय संस्थाओं का हाल पढ़ोगे तो तुम्हें मालूम होगा कि भारत की स्थानीय संस्थायें बहुत पिछड़ी हुई हैं। फ्रांस, ब्रिटेन अमेरिका आदि देशों में स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, रोशनी, सफ़ाई आदि के अतिरिक्त अमन व शान्ति क़ायम रखना, चोरियों तथा बदमाशियों को रोकना, पुलिस और साधारण न्याय के काम तक स्थानीय संस्थाओं के समझे जाते हैं। इंग्लैण्डमें तो स्थानीय शासन का सब अधिकार स्थानीय संस्थाओं ही के पास है। इन संस्थाओं में जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के हाथ में ही ये सब कार्य होते हैं। सरकार वहाँ स्थानीय शासन में दख़ल ही नहीं देती। पुलिस, अस्पताल, सफ़ाई आदि महक़मों के छोटे-बड़े अफ़सर स्थानीय संस्थाओं से ही वेतन पाते हैं; वे नागरिकों द्वारा चुने गये प्रतिदिधियों के सामने ही जवाबदेह होते हैं और उन्हीं का उनपर पूरा नियन्त्रण होता है। वहाँ पर कमिश्नर, कलक्टर, पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट, थानेदार, तहसीलदार आदि ऐसे कोई सरकारी अफ़सर शहर के मामलों में दस्तदाज़ी करने के लिए नहीं हैं। मन्त्रिमण्डल के मन्त्री स्थानीय संस्थाओं

की देखभाल व सरकारी अफ़सरों द्वारा परामर्श लेते रहते हैं, लेकिन उनके अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करते। दरअसल स्थानीय स्वशासन का इसके सिवा कोई अर्थ भी नहीं है। भारत के वायसराय लार्ड रिपन ने १८८२ में ठीक ही कहा था कि—"इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि देश की उन्नति के लिए सबसे उत्तम उपाय यही है कि जनता का शासन जनता के ही हाथ में दे दिया जावे। केवल थोड़े-से वही विषय केन्द्रीय सरकार के हाथ में छोड़ दिये जावें कि जिनके लिए साम्राज्य के हित में ऐसा करना लाजमी हो।" लेकिन लार्ड रिपन की उदार नीति उन्हीं के साथ खतम होगई और स्थानीय स्वराज को हिन्दुस्तान में विकसित करने की उनकी योजना न चल सकी। १९१२ ई० में श्री गोपालकृष्ण गोखले ने स्थानीय समितियों के अधिकार बढ़ाने के सम्बन्ध में एक बिल पेश किया, लेकिन सरकार ने उसे स्वीकृत नहीं किया। आजतक भी ज़िलाधीश ज़िले भर में सरकार का निरंकुश अधिकारी बना हुआ है। आशा है, कांग्रेसी प्रान्तीय सरकारें अब स्थानीय शासन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करेंगी।

नागरिकों का फ़र्ज़ है कि वे इन सब संस्थाओं में पूरी दिलचस्पी लें। जब ये संस्थायें उनपर टैक्स लगाती हैं और नये-नये क़ायदे-कानून जारी करती हैं; तब नागरिकों का भी फ़र्ज़ है कि वे यह देखें कि कोई नाजायज़ टैक्स तो नहीं लगाया गया, उनसे लिये गये रुपये का इस्तेमाल तो जायज़ हुआ है, उनकी सभी उचित ज़रूरतों को पूरा किया गया है या नहीं।

इसके सिवा नागरिकों का एक कर्तव्य और भी है; और वह यह कि वे इन संस्थाओं के काम में पूरी मदद दें। कमेटी के क़ानून बना देने या सफ़ाई के लिये कुछ नौकर रख देने से ही काम नहीं हो जायगा, जबतक कि जनता या नागरिक उसे इस काम में सहयोग न दें लेकिन इसकी चर्चा तो मैं अगले पत्र में करूँगा।

: १७ :

गाँव और उसके नागरिक

१८–८–३८

मैं कल ही गाँव से लौटा हूँ। सुभास के मामा तो ईश्वर की कृपा से स्वस्थ हो गये लेकिन तुम्हें यह जानकर दुःख होगा कि मेरे एक घनिष्ठ मित्र ला० नन्दकिशोर का, जिनसे शायद तुम भी वाक़िफ़ होगे, देहान्त होगया। वह कुछ दिन पहले भले-चंगे और तन्दुरुस्त थे। अभी तो दिल्ली में मुझसे मिलकर गाँव गये थे। उनकी इस बीमारी का कारण मलेरिया था। उनके घर के पास एक छोटा-सा गढ़ा था। उसमें आसपास के लोग कूड़ा-कचरा डालते थे। तुम भी उस गाँव में जा चुके हो, तुमने वह गढ़ा जरूर देखा होगा। मैंने उन्हें कई दफ़ा उस गढ़े को बन्द करने व सफ़ाई रखने के लिये कहा। वह कुछ-कुछ तैयार भी थे। उन्होंने दो-एक बार सफ़ाई कराई भी, लेकिन उन्हें इसमें सफलता न हुई। इसका कारण था उनके पड़ोसियों का हठ। वे वहाँ कूड़ा-कचरा फेंकते रहे और घर का गन्दा पानी भी उसी गढ़े में डालते रहे। फल यह हुआ कि वह गढ़ा गन्दे-गन्दे कीड़ों और मच्छरों का घर बन गया। इस बरसात में वह गढ़ा और भी लम्बा-चौड़ा हो गया। उसमें सड़ाँद और बदबू इतनी ज्यादा होगई कि उसके पास से गुजरना कठिन होगया। इसीसे आसपास मलेरिया फैल गया। ला० नन्दकिशोर और दो पड़ोसियों के बालक तो गुजर भी गये। अब जाकर—तीन के बलि होने के बाद—गाँववालों को समझ आई और गढ़ा साफ़ कराके भर दिया गया।

यह उसी गाँव की घटना नहीं है, भारतवर्ष के ७० लाख गाँवों

और शहरों का भी यही हाल है। लोग यह नहीं समझते कि गाँव या शहर की सफ़ाई में उनका भी कोई फ़र्ज़ है। इसी फ़र्ज़ की ओर मैं पिछले पत्र में ध्यान खींचनेवाला था। यदि कोई पंचायत या म्युनिसिपल कमेटी सफ़ाई के लिये थोड़े-से भंगी रख देती है, तो वे किसी काम नहीं आ सकते, जबतक कि नागरिकों का उन्हें सहयोग न मिले। इस सम्बन्ध में केवल गाँववाले ही नहीं, पढ़े-लिखे शहरी भी भारी अपराध के दोषी हैं।

कभी किसी गाँव में चले जाओ—तुम तो गाँव में रहते ही हो—कितना बुरा दृश्य दीखता है। गलियों में कूड़े के ढेर लगे रहते हैं, सड़ा-गला भोजन वहाँ बदबू कर रहा है, जो लोग मांस खाते हैं वे माँस के घिनौने टुकड़े और हड्डियाँ गली में फेंक देते हैं; जगह-जगह बालकों के पेशाब और टट्टी के नजारे दीख रहे हैं। नालियाँ एक तो होंगी नहीं, और जो होंगी उनकी सफ़ाई न होगी। नालियों में ईंट- पत्थर, फटे कपड़े सब डाल दिये जाते हैं। कुए और तालाब, जहाँ से पीने का पानी लिया जाता है, रोगियों के मैले-कुचैले कपड़े धोने के कारण ज़हरीले होगये हैं। जहाँ गाय-बैल बाँधे जाते हैं, वहाँ उनके पेशाब और गोबर से योंही गन्दगी बनी रहती है। अक्सर मकानों के आसपास ही गड्ढे होते हैं, जिनमें बरसाती पानी भरा रहता है, काई जमी रहती है और लकड़ी, पत्तियाँ व कभी-कभी मैला भी बहता रहता है। लोग उसी में आबदस्त लेते हैं, कुल्ला करते हैं, मिट्टी मल-मलकर हाथ धोते हैं और लोटा माँजते हैं। इसी पानी में मच्छर का परिवार बढ़कर बीमारी फैलाता है। गलियों में सड़नेवाले मैले पर मक्खियाँ भिन-कती रहती हैं और अपने गन्दे पाँव लेकर वे बस्ती के भीतर खाने की चीज़ों पर बैठती हैं। शहरों में हालांकि इतनी बुरी हालत नहीं है, लेकिन वहाँ सफ़ाई का जितना इन्तजाम होता है उसके

मुक़ाबिले में सफ़ाई बहुत कम होती है। वहाँ भी पक्की नालियों में बालक टट्टी-पेशाब करते हैं, भंगी के सफ़ाई कर चुकने के बाद एकदम गलियों में कूड़ा-करकट डाल दिया जाता है। पेशाब घरों में पेशाब न करके सड़कें और गलियाँ गन्दी कर दी जाती हैं। लोग बाजारों में चलते-चलते फल खाते जाते हैं और छिलके फेंकते जाते हैं, उन्हें यह परवा नहीं कि केले के छिलके रास्ते में गिराने से कभी-कभी कितनी भीषण दुर्घटना हो जाती है। किसीको क़ै आती है, तो वह बाजार में ही घिनौना नज़ारा पैदा कर देता है। कहने का मतलब यह है कि नागरिक सफ़ाई से इतने अधिक उदासीन हैं कि कुछ पूछो मत! इसमें हमारी कितनी हानि है यह वे सोचते तक नहीं। कभी रेलगाड़ी के थर्ड क्लास के डब्बे में सफ़र तो करो उसमें यात्री थूकते हैं, छिलके फेंकते हैं, पानी डाल देते हैं, मातायें बच्चों को पेशाब करा देती है और डब्बा बैठने लायक़ नहीं रहता।

नागरिकों का प्रधान कर्तव्य है कि वे सफ़ाई के नियमों को जानें और उनका पालन करें। लोगों की यह गन्दी आदत छुड़ाने में बहुत समय लगेगा और शुरु में तो स्वयं फावड़ा-झाड़ु हाथ में लेकर गाँव के मार्गों की सफ़ाई करनी होगी, पाखाने मिट्टी से ढकने होंगे, नालियाँ साफ़ करनी होंगी तथा कूड़ा उठाना होगा कुछ स्वयसेवक या समझदार नागरिक यदि शुरू में खुद सफ़ाई करने लगें तो शेष नासमझ नागरिक भी धीरे-धीरे सफाई के महत्त्व को समझ जावेंगे और सफ़ाई के काम में मदद देने लगेंगे।

फिर गलियों और सड़कों में जो कूड़ा फेंक दिया जाता है, उसकी यदि क़ीमत लगाई जाय, तो करोड़ों रुपया साल बैठेगी। विदेशों में कुछ म्युनिसिपल कमेटियों ने इधर ध्यान दिया है और वे लाखों रुपया कमाने लगी हैं गलियों और सड़कोंके कूड़ेके वर्गीकरण से तुम्हें मालूम होगा कि इसका कुछ हिस्सा बढ़िया खाद बनाने के काम

आ सकता है, कुछ सिर्फ ज़मीन में दफ़न कर देने के ही क़ाबिल होगा और कुछ का तुरन्त ही आर्थिक लाभ देने वाला उपयोग हो सकेगा। हड्डी का प्रत्येक टुकड़ा यदि बीन लिया जाय, तो कितने ही उपयोगी सामान बनाने के लिए वह कीमती सिद्ध होगा। या पीसने पर वह बहुत बढ़िया खाद बनेगा। चीथड़े और रद्दी कागज़ों का कागज़ बनाया जा सकता है और जगह-जगह से इकट्ठा किया गया पाखाना खेतों के लिए स्वर्णमय खाद है। मलमूत्र को उपयोगी बनाने के लिए उसको मिट्टी में मिलाकर ज्यादा-से-ज्यादा एक फुट गहरा गढ़ा खोद कर उसमें दबा देना चाहिए। ज़मीन की ऊपरी सतह सूक्ष्म जीवों से भरी रहती है और हवा तथा रोशनी की मदद से, जो कि वहाँ आसानी से पहुंच जाते हैं, ये जीव इस मल-मूत्र को एक हफ्ते के अन्दर बढ़िया और मुलायम मिट्टी का रूप दे देते हैं। यह काम दो तरह से हो सकता है। या तो पाखाने बना कर उनमें मिट्टी के गमले या लोहे की बाल्टियाँ रख दी जायँ और रोज़ उन्हें इसके लिए पहले से अच्छी तरह तैयार की गई ज़मीन में खाली कर दिया जाय और या खेत में चौरस गढ़ा खोदकर उसीमें शौच किया जाय। मलमूत्र या तो गाँव के सामूहिक खेतों में गाड़ा जा सकता है या अपने-अपने निजी खेतों में। यह सिर्फ ग्रामवासी नागरिकों के सहयोग से ही सम्भव है। आजकल तो यह सारी क़ीमती खाद, जो लाखों रुपयों की होती है, रोज़ बरबाद होती है और बदले में हवा को गन्दा करती तथा बीमारियाँ फैलाती हैं। कूड़े-करकट में मिले लोहे की चीजों से ही विदेशी म्युनिसिपल कमेटियों ने काफ़ी रुपया कमाया है। मेरी इच्छा थी कि इस सम्बन्ध में तुम्हें कुछ विस्तार से सूचनायें दूँ, लेकिन इससे पत्र बहुत बड़ा होजायगा। गाँधीजी ने गाँवों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ विचार किया है। तुम उनका—साहित्य पढ़ोगे, तो तुम्हें बहुत-सी काम की बातें मिलेंगी।

बहुत-से काम न कर सके। जबतक दोनों पहिये एकसाथ न चलें, गाड़ी का चलना कठिन हो जाता है। राज्य भी, चाहे वह स्थानीय संस्था के रूप में हो या प्रांतीय और राष्ट्रीय सरकार के रूप में एक गाड़ी है जिसके सरकार और नागरिक ये दो पहिये हैं। गांव, जिला, प्रान्त या देश की उन्नति के लिए जरूरी है कि दोनों ही अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें। जिस प्रकार म्युनिसिपल कमेटी और सरकार का कर्तव्य नागरिकों की उन्नति है, उसी तरह नागरिकों का फ़र्ज़ है कि वे उसके बनाये क़ानूनों का पालन किया करें और आवश्यकता के अनुसार उसकी सहायता करते रहें।

प्रत्येक नागरिक को यह बात अपने सामने रखनी चाहिए कि नागरिकता का आदर्श प्रत्येक समय एक-दूसरे की सहायता करना है। यदि पड़ोसी के घर में आग लगी हो तो मेरा फ़र्ज़ है कि मैं उसकी मदद करूं। बाढ़ आदि दैवी विपत्ति आने पर छूत-अछूत, हिन्दू-मुसलमान, शत्रु-मित्र, स्त्री-पुरुष, सब भेदभाव और लाज-परदा छोड़कर विपत्ति-निवारण के काम में लग जाना चाहिए। हमारे स्मृति-कारों ने समाज की एक शरीर से उपमा दी है, जिसमें विविध वर्ण उसके जुदा-जुदा अंग बताये हैं। कल्पना तो करो कि यदि शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में परस्पर सहयोग न हो तो शरीर का काम कैसे चलेगा? अगर मुंह भोजन का स्वाद लेकर पेट में न पहुंचाये या मुख पर मक्खी बैठने पर हाथ न उड़ाये, या भोजन-प्राप्ति के लिए पैर चलने से और हाथ काम करने से इन्कार कर दें तो शरीर का कोई भी काम न चले। सबके सहयोग-पूर्वक काम करने पर काफ़ी पहले से ज़ोर दिया जाता रहा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है कि जब ग्रामिक (ग्राम का मुखिया) सारे गांव के लिए किसी काम पर जावे तो ग्रामवासियों को

भोज आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए गाँवभरमें आदर्श पेश करना और लोगों को समझाना उनका भारी फ़र्ज़ है। गाँव के अनपढ़ों को वे निजी या सामूहिक रूप से शिक्षा दे सकते हैं; अवकाश मिलने पर अच्छी पुस्तकें या अखबार सुना-सुनाकर उनका ज्ञान बढ़ा सकते हैं; बेकार या भिखारी लोगो को काम करने की प्रेरणा या काम देने का प्रबन्ध कर सकते हैं; उनमें मितव्ययिता, सहिष्णुता आदि गुणों का प्रचार कर सकते हैं।

अभी मैं तुम्हें आग, बाढ़ वग़ैरह विपत्तियों के आने पर सब लोगों की सहायता करने को लिख चुका हूँ। लेकिन सहायता करने का ढङ्ग सीखना पड़ता है। मैंने कई अग्निकाण्ड देखे हैं, जबकि सारा-का-सारा गाँव जलने लगा है और गाँववाले कुछ भी नहीं कर सके। इसलिए नहीं कि वे कुछ करना नहीं चाहते, बल्कि इस लिए कि उन्हें कुछ सूझता नहीं कि आग कैसे बुझाई जाय। गाँव वाले हाथ-पर-हाथ धरे अपनी सारी दौलत को जलते देखते रहते हैं और कुछ समझदार अभ्यस्त स्वयंसेवक या स्काउट आते हैं और थोड़ी देर में सब व्यवस्था कर देते हैं। समय पर दूसरे की सेवा करने की व्यावहारिक शिक्षा का ज्ञान भी नागरिकों को होना चाहिए। एक आदमी डूब रहा है, कहीं भारी चोट खा गया है, कहीं आग लग रही है या कोई और आफ़त आ रही है, मेले में भारी भीड़ के कारण बच्चे कुचले जारहे हैं, या गुम हो गये हैं ऐसे मौक़ों पर रक्षा की व्यावहारिक शिक्षा स्काउटों को दी जाती है। हरेक गाँव में भी स्काउटों या स्वयंसेवकों का एक ऐसा दल होना चाहिए, जो नागरिकों का समय-समय पर सहायता और ऐसे कामों की शिक्षा देता रहे।

नागरिकों की सामूहिक कर्तव्य-भावना को ऋग्वेद के अन्तिम

तीन मन्त्रों में इतनी उत्तमता से बताया गया है कि मैं उन्हें यहाँ देने का लालच रोक नहीं सकता:—

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।१।।
समानो मंत्र: समिति: समानी समानं मन: सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभिमंत्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि ।।२।।
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व: ।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति ।।३।।

१. हे मनुष्यो, आप सब अच्छी तरह मिलकर चलो आपस में मत-भेद मत रक्खो एक-दूसरे को पहचानने की कोशिश करो। जैसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हैं, उसी तरह आप भी अपना-अपना कर्तव्य पालन करो।

२. आप सबकी एक सलाह हो, एकसाथ उठना-बैठना हो, दिल एक हों। मैं सबको एक मंत्र से दीक्षित करता हूँ और एक से प्राकृतिक साधन देता हूँ।

३. आप लोगों का एक संकल्प हो, दिलों में फूट न हो, आप लोगों के सब काम एकसाथ अच्छी तरह सम्पन्न हो सकें।

: १८ :

मेरा देश

१६—७—३८

पिछले दो पत्रों में हमने गांव या शहर के प्रति अपने कर्तव्यों पर कुछ विचार किया है। पर यह तो प्राथमिक कर्तव्य है। हमारा कर्तव्य यहीं समाप्त नहीं होजाता। एक और प्रधान संस्था मौजूद है, जिसके प्रति भी मेरा फ़र्ज़ है और जो मेरे सहयोग की अपेक्षा करती है — वह है मेरा — हमारा देश। इसके प्रति अपने फ़र्ज़ को राष्ट्रीयता कहा जाता है। यह राष्ट्रीयता भूगोल, भाषा, धर्म तथा दूसरी उन बातों से उत्पन्न होती है, जो निकटता तथा सामाजिक सजातीयता पैदा करती है। किसी राष्ट्र की भौगोलिक रूपरेखा नियत होती है। उसका अपना एक स्वतंत्र नाम होता है। उसका अपना साहित्य, अपना इतिहास, अपनी सरकार और उसमें रहनेवालों के अपने स्वार्थ होते हैं। नागरिक ने व्यक्ति से कुटुम्ब और कुटुम्ब से गाँव या शहर तक अपना कार्यक्षेत्र फैलाया और अब वह राष्ट्र या देश तक, जिसे वह अपनी मातृभूमि कहता है, अपना दायरा बढ़ाता है।

इस मातृभूमि के भाव ने जातियों के इतिहास बनाये हैं। एक समय था, जब देश या मातृभूमि का भाव लोगों में इतना प्रबल न था। मनुष्य का क्षेत्र संकुचित था, पर वह बढ़ते-बढ़ते अब एक राष्ट्र या देश तक फैल गया है। और यह यहाँ तक बढ़ गया है कि जाति की जाति आँख मूंदकर देशभक्ति मातृ-भूमि और राष्ट्रीयता के नाम पर अपनी जान कुर्बान करने में ज़रा भी नहीं हिचकती। हज़ारों कवियों ने मातृभूमि के नाम पर

निरीक्षण करती है, वहाँ अपने को भी यथा संभव स्वतंत्र रखने को चेष्टा करती है। अप्रैल १९३७ से पहले भारत में जो शासन विधान चालू था, उसमें प्रान्तों को अपने प्रान्तीय मामलों में भी बहुत-कम स्वतन्त्रता थी। उन्हें प्राय: प्रत्येक मामले में केन्द्रीय सरकार का मुँह ताकना पडता था इस लिए उस व्यवस्था को 'यूनिटरी सिस्टम' कहा जाता था लेकिन अब ११ प्रान्तों — बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, मद्रास, बम्बई, सिंध, सीमाप्रांत, पंजाब और युक्तप्रांत को काफी ज्यादा अधिकार देकर प्रान्तीय स्वराज्य दे दिया गया है। केन्द्रीय सरकार सब प्रान्तीय सरकारों का निरीक्षण करती है और राष्ट्र-रक्षा आदि सिर्फ वही काम करती है, जिनका सारे देश से सम्बन्ध हो। इसके लिए वह कस्टम, रेलवे आदि आमदनी के कुछ साधन भी अपने पास रखती है। सब प्रान्त व संघविधान के अनुसार रियासतें भी इसकी सदस्य होंगी। अभी तक हमारे यहां प्रान्तीय स्वराज्य तो क़ायम हो गया है, लेकिन संघ-विधान अमल में नहीं आया।

मेरा विचार विधान के पेचीदे विस्तार में जाने का नहीं है। विधान का निर्देश तो मैं प्रसंगवश कर गया. मेरा मतलब सिर्फ यह था कि नागरिक के कर्तव्य अपने-अपने परिवार और अपने गांव या शहर तक ही सीमित नहीं हैं. वे इससे कहीं ज्यादा, अपने प्रान्त, सारे देश या राष्ट्र के प्रति हैं। जैसे नागरिक को परिवार और गांव के हित में अपना हित समझना होता है, उसी तरह प्रान्त व देश के हित को भी अपना हित समझना चाहिए। अगर देश की स्थिति ही सुरक्षित न हो, तो गांव या परिवार की हालत भी ख़तरे में पड सकती है। इसका उदाहरण देने की बहुत ज़रूरत नहीं। भारत की अपनी सरकार नहीं है। इसका असर दूर-से-दूर कोने में रहने वाले भारतीय किसान पर भी उतना ही ज्यादा पड़ता है, जितना राजधानी दिल्ली में रहने वाले

नागरिक पर। रेलवे, सेना, सामुद्रिक तटकर, विनिमय और मुद्रानीति आदि कई महत्त्वपूर्ण विषय सारे देश से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि देश के मामलों में नागरिकों को पूरी रुचि हो। यहां मैं देश के प्रति अपने कुछ कर्तव्यों की ओर तुम्हारा ध्यान खींचता हूँ :—

(१) केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव में जहां तक मुमकिन हो, योग्य उम्मीदवार को भेजना चाहिए। पैसे के, जात-पात के या मजहब के लिहाज से नहीं, लेकिन योग्यता और देशसेवा की कसौटी से नागरिकों को चुनाव के समय वोट देने चाहिए। अभीतक भी भारत में बहुत-कम नागरिकों को मताधिकार प्राप्त हैं और जो हैं भी, वह साम्पत्तिक या शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता पर। यह अनुचित है। बालिगमात्र को मताधिकार मिलना चाहिए, जैसा कि मैं अधिकार के सिलसिले में लिख चुका हूँ। भारत के मताधिकार का दूसरा बड़ा दोष यह है कि इसमें हिन्दुस्तानियों को अलग-अलग दलों, फिरकों या संप्रदायों में बाँट दिया गया है। जो उम्मीदवार अपने सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक भावों को जितना ज्यादा भड़कावेगा, वही ज्यादा वोट प्राप्त कर सकेगा और आज इसका नतीजा होरहा है भारत में सांप्रदायिकता की वृद्धि।

(२ देश के सामने जो समस्या पेश हो, उसमें नागरिक भी खूब दिलचस्पी लें। राष्ट्र के विधान और सरकारी मशीनरी के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिए। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या पर लोकमत जागृत होना चाहिए, जिससे चुने गये प्रतिनिधियों को भी लोकमत का निरादर करने की हिम्मत न हो।

(३) अगर कोई ऐसा मौक़ा आजाय, जब प्रजा के हाथ से अपने अधिकार छिनने लगें, तो उससे सतर्क रहना चाहिए। जो अधिकार हमारे पूर्वजों ने सदियों लड़कर प्राप्त किये हैं, उन्हें यों-

ही अपनी लापरवाही और उपेक्षा से गंवा देना परले दर्जे की मूर्खता होगी। अधिकारों की रक्षा के लिए यदि आन्दोलन की आवश्यकता हो, तो उससे भी घबराना नहीं चाहिए।

(४) राष्ट्र की सरकार जैसा कि मैं बार-बार कह चुका हूँ, सब नागरिकों की प्रतिनिध-संस्था है। इसका अर्थ यह है कि नागरिक खुद ही अपने पर शासन करते हैं। इसका यह भी अर्थ हुआ कि सरकार जो क़ानून बनाती है, जो टैक्स लगाती है, वह हमारी—हमारे प्रतिनिधियों की सम्मति से लगाती है। उन कानूनों और आज्ञाओं को मानना हमारा कर्तव्य है। यदि हम सरकारी हुक्मों को मानने से इन्कार कर देते हैं, तो इसका परिणाम यह होगा कि वह सरकार फेल होजायगी और तब शक्तिशाली पुरुष सैनिक बल से हम पर हावी हो जावेंगे, जो हमें क़तई पसन्द नहीं है। हाँ, यदि विदेशी सरकार हो और वह लोकमत का निरादर कर अनुचित कानून जारी करे, अनुचित टैक्स लगावे, तो उनका विरोध करना प्रजा का केवल अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है। जिस गुलाम देश के नागरिक निरंकुश विदेशी सरकार के अनुचित और कठोर नियमों का सिर झुकाकर पालन करते हैं, वे अपने कर्तव्य से गिर जाते हैं। विदेशी सरकार का विरोध करने में चाहे कितनी ही तकलीफें क्यों न सहनी पड़ें नागरिकों को घबराना नहीं चाहिए।

(५) राष्ट्र या देश की उन्नति में यदि कुछ त्याग करना पड़े, तो वह करने में संकोच न करना चाहिए। महाभारत में लिखा है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्

कुल के लिए एक व्यक्ति, ग्राम के लिए कुल, और प्रान्त के लिए ग्राम को छोड़ने में संकोच न करना चाहिए। जो राष्ट्र हमारे जन-धन और प्राण की रक्षा करता है, उसके लिए हमें अपने प्राण

तक देने पड़ें, तो भी उसके लिए संकोच न करना चाहिए। मातृभूमि के लिए आत्म-बलिदान की सैकड़ों वीर कथाएँ इतिहास में विद्यमान हैं। जिस देश में हम पैदा होते हैं खेलते हैं, कूदते हैं और सब प्रकार के सुख पाते हैं, यदि उसकी रक्षा के लिए हम अपने को बलिदान भी करदें, तो वह महँगा सौदा नहीं है। मातृभूमि की आजादी हमारी अपनी आजादी है। हमारी गतिविधि, हमारा चिन्तन, हमारा प्रत्येक काम ऐसा होना चाहिए कि उससे हमारे देश को ज़रा भी दुःख न हो। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में नागरिक का कर्तव्य बताया गया है— उठते, बैठते हुए, दांये या बांये पैर से हम मातृभूमि को कोई कष्ट न दें। अपने छोटे बड़े भेद भाव भूलकर मातृभूमि पर विपत्ति के समय हमें एक हो जाना चाहिए।

(६) आजकल प्रत्येक सभ्य राष्ट्र के नागरिक की यह कोशिश रहती कि वह अपनी मातृभूमि की इज्जत की रक्षा करे। भारतवर्ष में भी राष्ट्रीयता की दिनों दिन वृद्धि होरही है। जहां यह देश के लिए शुभ लक्षण हैं, वहां हमारी राष्ट्रीयता में एकांगता का दोष भी है। हमारी राष्ट्रीयता के केवल राजनैतिक

१. उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्त उत प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् । २८ ।

रूप का विकास होरहा है। केवल राजनीतिक अधिकार ही हमारे लिए काफ़ी नहीं हैं। राष्ट्र की संस्कृति, राष्ट्र की सभ्यताऔर राष्ट्र की भाषा आदि की भी हमें प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए इस ओर हमारी भीषण उदासीनता राष्ट्रीयता के सिद्धांतों के विरुद्ध है। इससे हमें आत्माभिमान या देश-गौरव नष्ट हो जाता है। हमें अपने इतिहास पर— इतिहास के वीर नायकों पर गर्व करना चाहिए। हरेक मुल्क में वीर पूजा के उत्सव बड़ी धूमधाम

से मनाये जाते हैं। विशुद्ध विदेशी पोशाक में रहने और विदेशी भाषा बोलने वाले से आप सच्ची राष्ट्रीयता की आशा नहीं कर सकते। वह अपने देश की आम जनता से कभी हिलमिल नहीं सकता, न उससे पूरी हमदर्दी कर सकता है। विदेशी तालीम ने हम शिक्षित भारतीयों को सचमुच आम जनता से इतना दूर कर दिया है कि अपने ही देश के गाँवों में हम परदेसी से मालूम पड़ते हैं।

(७) हमें प्रत्येक आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में अन्य राष्ट्रों से आगे बढ़ने व अधिक उन्नति करने की कोशिश करनी चाहिए। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता का एक ऐसा उत्साह होना चाहिए कि हम अपने देश की सर्वाङ्गीन उन्नति के बिना कभी चैन ही न लें।

(८) जब देश पर किसी शत्रु ने आक्रमण कर दिया हो, तब प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए, यह मैं पहले लिख चुका हूँ। लेकिन जब अपना देश ही आक्रमणकारी हो और अन्याय से दूसरे पर आक्रमण कर रहा हो, तब भी क्या हमें उस युद्ध में सम्मिलित होना चाहिए? इस सवाल का जवाब बहुत आसान नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि जब सरकार युद्ध का निश्चय कर ले, तब नागरिकों को अपनी इच्छा को दबाकर बहुमत का आदर करना चाहिए। बहुत दफ़ा सरकारें जनता को सहयोग देने के लिए क़ानून द्वारा बाधित करती हैं, लेकिन मेरा विचार कुछ भिन्न है। किसी दूसरे देश पर बिना किसी कारण अपनी साम्राज्य-लिप्सा शान्त करने की ख़ातिर ही आक्रमण करना पाप है। मनुष्य का दायरा केवल राष्ट्र की भौगोलिक सीमा तक ही सीमित नहीं है, वह तमाम दुनिया का—सारी मानव-जाति का भी तो एक अंग है। जैसे एक नागरिक अपने पड़ोसी का अधिकार-हरण करके पाप

करता है, वैसे ही एक राष्ट्र भी यदि दूसरे राष्ट्र को पराधीन करता है, तो वह भी पाप करता है। इसलिए ऐसे मौक़े पर नागरिकों को दिलेरी के साथ अपनी सरकार का विरोध करना चाहिए। यदि इतना आत्मबल आज यूरोपियन मुल्कों के नागरिकों में आजाय, तो साम्राज्यवाद के लिए होनेवाले हमले भी बन्द होजायँ। राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० हेरल्ड लास्की लिखते हैं कि –

"आत्मा की प्रेरणा से बढ़कर और कोई कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता। आत्मा की आवाज़ को दबाना स्वतन्त्रता के साथ धोखा करना है। जो इस प्रकार की आज्ञायें स्वीकार कर लेते हैं, वे गुलामी की सीढ़ी का काम देते हैं। जो अन्याय को देखते हुए भी चुप बैठे रहते हैं, वे भी उस अन्याय के करनेवाले हैं। ..... स्वतन्त्रता का अर्थ है अपने प्रति सच्चा रहना और यह तभी क़ायम रह सकती है, जब संघर्ष या मुकाबला करने का साहस हो। यह साहस – सिर्फ़ यही साहस स्वतन्त्रता की गारन्टी है। लोग कहेंगे कि इससे अराजकता फैल जायगी। मैं मान लेता हूँ पर हमेशा व्यवस्था ही सर्वोत्कृष्ट चीज़ नहीं होती है और विद्रोह हमेशा हानिकर भी साबित नहीं हुए। शक्ति का उद्देश्य सिर्फ़ शक्ति नहीं है, शक्ति का उद्देश्य है सुख की प्राप्ति। यदि शक्ति से सुख या आत्मसन्तोष का लाभ न हो, इसके विपरीत आत्मा को असन्तोष हो तो सिवाय उस शक्ति से संघर्ष या विद्रोह के हमारे पास और क्या मार्ग रह जाता है? अन्यथा अपने सुख का हम बलिदान कर दें।" आगे चलकर प्रो० लास्की लिखते हैं कि "हमारी सरकार कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसे यह भय हो हमारी स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा प्रभावशाली साधन है कि जनता की स्वतन्त्रता का परिणाम होगा, दृढ़संकल्प नागरिकों द्वारा विद्रोह या क्रान्ति।"

नागरिक का फर्ज़ है कि वह अपने दायरे को बढ़ाते-बढ़ाते तमाम दुनिया को अपना दायरा बना ले। कुछ लोग अन्तर्राष्ट्रीय

विश्व-बन्धुत्व की कल्पना करते हुए कुल, जाति या देश के अभिमान को भूल जाते हैं, इन्हें संकीर्णता कहकर इनका निरादर करने लगते हैं। लोकमान्य तिलक ने ऐसे लोगों को खूब अच्छा जवाब दिया है। वे कहते हैं—"निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है, उसी प्रकार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बुद्धि पाने के लिए कुल, जाति और देश आदि के अभिमान की भी आवश्यकता है। समाज की प्रत्येक पीढ़ी इसी ज़ीने से ऊपर चढ़ती है और इसीलिए इस सीढ़ी को बनाये रखना पड़ता है.........मंज़िल पर मंज़िल तैयारी करके इमारत बन जाने पर जिस प्रकार नीचे के हिस्से निकाले नहीं जा सकते, अथवा जिस प्रकार तलवार हाथ में आ जाने पर भी कुदाली की, या सूर्य होने पर भी अग्नि की जरूरत बनी ही रहती है, उसी प्रकार सर्वभूत-हित की अन्तिम सीमा तक पहुंच जाने पर भी न केवल देशाभिमान की ही नहीं, वरन् कुलाभिमान की भी आवश्यकता बनी रहती है।" हाँ, इस हालत में अपने देश की उन्नति का अर्थ दूसरे राष्ट्र का पतन नहीं होगा। अपना व्यक्तित्व, परिवार, गाँव, नगर, देश और विश्व ये पाँच वृत्त हैं, जिनका केन्द्र एक है और क्रमशः ये अपने पहले से बड़े हैं। ये परस्पर विरोधी नहीं हैं। इसलिए एक समय एक व्यक्ति के लिए सम्भव है कि वह अपने-अपने परिवार, गाँव, नगर, देश और विश्व सब के हितों की रक्षा कर सके। जहाँ एक हित दूसरे को काटने लगे, वहाँ बड़े वृत्त को तरजीह दी जानी चाहिए। राष्ट्रसंघ (लीग आफ़ नेशन्स) इस दिशा में काफ़ी सफलता प्राप्त कर सकता, यदि उसके सदस्य इस नियम का पालन करते, लेकिन उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति ने राष्ट्रसंघ को लुटेरों का सदस्य बना दिया है। कितनी बड़ी विडम्बना है!

१. Liberty in the Modern State (पृ० ७५-७८)

धर्मप्रवर्तक महापुरुष के जीवन का अध्ययन करने से हमें मालूम होगा कि उसने अपने समय और देश की हालतों के अनुसार कुछ विशेष बातों पर ज़ोर दिया। बहुत मुमकिन है कि हज़रत मुहम्मद अरब में न होकर भारत में होते, तो उनकी शिक्षाओं में कुछ दूसरी बातों पर बल दिया जाता। इसी तरह म० बुद्ध, ईसा और गुरु नानक आदि की शिक्षाओं में भी अपने चारों ओर की परिस्थितियों का प्रभाव साफ़ तौर से प्रतीत होता है। फिर एक महापुरुष को बिलकुल मुकम्मिल और निर्भ्रान्त मान लेने की ग़लती की जाती है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से निष्पक्ष विवेचन किया जाय, तो धर्मप्रवर्तकों की भी अनेक अपूर्णताएँ हमारे सामने आयँगी. यहाँतक कि सूर्य में भी धब्बे दीखते हैं। हमें देखना तो यह चाहिए कि एक नागरिक के दार्शनिक मंतव्यों का उसके आचरण पर तो ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता, जोकि समाज के लिए या पड़ोसी के लिए नुक्सानदेह हो। धर्मों का अध्ययन करने से यह साफ़ मालूम होता है कि सभी धर्म प्रवर्तकों ने सार्वभौमिक धर्म सदाचार की शिक्षा दी है। कोई मस्जिद में जाय, गिरजे या मन्दिर में जाय, इससे किसी दूसरे की हानि नहीं होती। इसलिए हम सब नागरिकों का कर्तव्य है कि हम हरेक धर्म या सम्प्रदाय को उन्नति करने दें। इतना ख़याल हमें ज़रूर रखना चाहिए कि अपने धर्म का प्रचार करते हुए किसी दूसरे से जबरदस्ती न करें; क्योंकि ऐसा करना उस अधिकार को छीनना है, जो धार्मिक स्वतन्त्रता के बारे में नागरिकों को मिला हुआ है और जिसकी चर्चा हम अधिकार के प्रकरण में कर चुके हैं। राष्ट्रसम्बन्धी व्यवहार में तो नागरिकों को सिर्फ़ इतना देखना चाहिए कि कोई व्यक्ति कितना योग्य है, उसमें जन-सेवा की कितनी लगन है। इस कसौटी पर उतरनेवाले किसी भी व्यक्ति को बिना किसी झिझक के ऊँचे से ऊँचा पद दिया जा सकता है।

स्त्रियों के साथ भी नागरिकों का व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए। नारी शक्ति की जननी है। समाज के निर्माण में पुरुष की अपेक्षा उसका हिस्सा कम नहीं है। "स्त्री के अभाव में संसार हिंसा, कलह, अशान्ति और दुःख का नमूना बन गया होता। शोभा, सुन्दरता, सरसता और संजीवता की जगह भीषणता, बीभत्सता, नृशंसता, स्वार्थान्धता और रक्तपिपासा का राज्य दिखाई देता। स्त्री ने उत्पन्न होकर जगत् पर अमृत की वृष्टि की है। उसने मनुष्य को उत्पन्न ही नहीं किया, जगत् को जिलाया और अमर भी किया है।" ऐसी स्त्री जाति के सुखों की चिन्ता पुरुष समाज का प्रथम धर्म है। स्त्रियों की शिक्षा, स्त्रियों के स्वास्थ्य और स्त्रियों की दूसरी सुविधाओं का इन्तज़ाम करना चाहिए। राजनैतिक या सामाजिक दृष्टियों से पुरुषों व स्त्रियों में यथासम्भव कोई फ़र्क न रहे। विधवाओं के साथ होनेवाले अत्याचार बन्द कर देने चाहिए। रोज़मर्रा पतियों द्वारा स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचारों की भी समाप्ति होजानी चाहिए।

दलितों के सम्बन्ध में पहले भी मैं विचार कर चुका हूँ। कोई मनुष्य जन्म के कारण दलित नहीं है। सभी नागरिकों को, जो भी इस राष्ट्र में उत्पन्न हुए हैं, एक समान विकास करने का अधिकार है। नागरिकों को चाहिए कि वे जहाँ किसी के साथ धार्मिक भेदभाव न करें, वहाँ जन्म या वर्ग के कारण भी किसी से भेदबुद्धि न रखें। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि "किसी आदमी को अस्पृश्य कहना भगवान् के विरुद्ध पाप करना है, क्योंकि वह भगवान् ही का एक पुत्र है।"

एक देश में ऊपर लिखे श्रेणी-विभाजन के सिवाय आर्थिक दृष्टि से भी श्रेणियाँ बाँटी जाती हैं। किसान, ज़मींदार मज़दूर, पूँजीपति, बौद्धिक पेशे, शासक श्रेणी वगैरा कई जमायतें हैं, जिनके अधिकारों की रक्षा के लिए हमें कोशिश करनी चाहिए।

किसानों पर अबतक जमींदारों और सरकारी कर्मचारियों की ओर से सैंकड़ों प्रकार के अत्याचार होने का नतीजा यह हुआ कि तमाम मुल्क के लिये अन्न पैदा करनेवाला किसान खुद भूखों मर रहा है। यह स्थिति किसी भी हालत में न रहनी चाहिये। किसान की तो समस्त देश का अन्नदाता होने के कारण सबसे अधिक इज्जत होनी चाहिए। किसान से उतना ही टैक्स लेना चाहिये, जिसे वह बरदाश्त कर सके। उसकी आमदनी बढ़ाने, उसके खर्च कम करने और खेती के सुधार की ओर भी नागरिकों का पूरा ध्यान रहना चाहिए। उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति को उन्नत करना चाहिये। मजदूरों के साथ भी यही उदार दृष्टिकोण रखना चाहिए। मिलों में उनकी अनेक तकलीफों को दूर करना चाहिए। काम के घंटे, मजदूरी व उनसे व्यवहार में मनुष्यता का परिचय देना चाहिए। यदि किसी देश के किसान मजदूर दरिद्र हैं, तो उस देश का व्यापार व्यवसाय भी जरूर चौपट हो जायगा। अगर एक राष्ट्र की खरीदने की ताक़त ही नष्ट हो जाय, तो उसका नतीजा व्यापार-व्यवसाय का नाश तो है ही।

जमींदारों व पूंजीपतियों के साथ भी नागरिकों का व्यवहार न्यायपूर्ण रहना चाहिये। आज बहुत-से विचारक इन दोनों श्रेणियों के अस्तित्व की उपयोगिता से इन्कार करते हैं। मैं यहां इस बहस में नहीं पड़ना चाहता। मेरा तो कहना यह है कि खेती और विशेषकर व्यवसाय की उन्नति में धनिक श्रेणी का विशेष हाथ रहा है, इसलिए उसके साथ भी अन्याय और बलात्कार नहीं करना चाहिये। हां, उन्होंने दरिद्र जनता पर जो अत्याचार कर रखे हैं, उन्हें भी दूर करने में संकोच नहीं करना चाहिये। धन को अनुचित महत्व देने, आम लोगों को उन्नति की ज्यादा-से-ज्यादा सुविधायें देने का परिणाम यह होगा कि अमीर श्रेणियों

ने जो अनुचित दबदबा क़ायम कर रखा है, वह खुद ही खतम हो जायगा।

देश की सब जमायतों को नागरिकता के अधिकार एक से हैं। यह मानकर यदि सभी नागरिक एक दूसरे के हितों और अधिकारों का ख़याल रखें, तो मुल्क की बहुत-सी अन्दरूनी समस्यायें हल हो जायें। इनके सिवा जनता को अपनी नैतिक सतह भी ऊँची करनी चाहिये। चोरी, मारपीट, व्यभिचार, धोखा बेईमानी आदि दुर्गुणों के निवारण की सामाजिक रूप से कोशिश होनी चाहिये। सरकार द्वारा जारी किये नियमों और कार्यों में जनता को पूरा सहयोग देना चाहिए। यही नागरिक के कर्तव्य हैं।

यूनानियों की निम्नलिखित नागरिक प्रतिज्ञा सभी नागरिकों के लिये विचारणीय है। प्राचीन यूनान में नगरराज्य होते थे, इसलिए हमें नगर से राष्ट्र ही समझना चाहिए। वह प्रतिज्ञा यह है:—

"यह हमारा नगर है। हम अपनी कायरता या बेईमानी के किसी काम से इसका अपमान न करेंगे, न हम अपने दुखी साथियों का कार्यक्षेत्र में साथ छोड़ेंगे। हम इस नगर की पवित्र वस्तुओं तथा आदर्शों की रक्षा के लिए लड़ेंगे; चाहे हम अकेले हों या बहुतों के साथ हों। हम नगर के नियमों का आदर तथा पालन करेंगे और उनकी अवहेलना करनेवाले बन्धुओं में भी ऐसा ही भाव भरने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे. हम नागरिक कर्तव्यों की सार्वजनिक भावना को उत्तेजित करेंगे। इस प्रकार इन सब उपायों से हम इस नगर को जैसा हमें यह सौंपा गया है उसकी अपेक्षा आनेवाली पीढ़ी के लिये कम नहीं, अधिक महान्, उन्नत और सुन्दर बनायेंगे।"

इस प्रतिज्ञा के आखिरी वाक्य की ओर मैं तुम्हारा

खास तौर से खींचना चाहता हूँ। यदि हरेक नागरिक, चाहे वह किसान हो या मजदूर, डाक्टर हो या वकील, वैज्ञानिक हो या दार्शनिक, राजनीतिज्ञ हो या शासक, उपदेशक हो या अध्यापक, कारीगर हो या दुकानदार; व्यवसायी हो या इंजीनियर, इस आदर्श को अपने सामने रक्खे और किसी काम को अपने हाथ में लेने से पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हालत में कर देने का दृढ़ निश्चय करले, तो एक ही पीढ़ी में देश एक सदी आगे बढ़ सकता है। हरेक नागरिक अपने-अपने कार्य-क्षेत्र का विकास करे; आगे बढ़ना, यह आदर्श अपने सामने रक्खे। इस आदर्श को सामने रखने से ही आज यूरोप वैज्ञानिक, राजनैतिक, व्यापारिक और व्यावसायिक आदि सभी क्षेत्रों में इतनी उन्नति कर सका है। इसी आदर्श को सामने रखकर कोई भी राष्ट्रीय या सामाजिक आन्दोलन सफल होते हैं। संसार की उन्नति या विकास के मूल में यही भाव मुख्यतया काम करता है।

——:o:——

: २० :

कर्तव्यों का संघर्ष

२४—७—३८

पिछले सात पत्रों में हमने नागरिकों के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों पर विचार किया है। वे जरूरी हैं और सच्चा नागरिक उनका पालन करने की कोशिश भी करता है। लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर भी सामने आ जाते हैं, जब ये कर्तव्य आपस में ही टकराने लगते हैं। महाभारत के युद्ध के मौक़े पर अर्जुन के सामने भी यही कर्तव्य-संघर्ष उपस्थित हुआ था। एक ओर उसके गुरु तथा रिश्तेदार थे, जिन्हें वह मारना नहीं चाहता था, और दूसरी ओर क्षत्रिय का धर्म था। ऐसी कर्तव्यमूढ़ता अक्सर बहुत मौक़ों पर लोगों के सामने उपस्थित होती हैं: जब उन्हें दो कर्तव्यों के बीच में से एक का चुनाव करना पड़ता है, लेकिन उन्हें सूझता नहीं। "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" पण्डित भी बहुधा ऐसी पहेली नहीं सुलझा सकते। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' के दूसरे प्रकरण 'कर्म-जिज्ञासा' में ऐसे बहुत से उदाहरण दिये हैं, जबकि धर्म के साधारण नियमों के पालन में ऐसी अड़चनें पैदा हो जाती हैं, और आदमी किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। सत्य बोलना धर्म है, सत्य की हज़ार अश्वमेध यज्ञों से तुलना की गई है, लेकिन आततायी से गौ को बचाने के लिए असत्य बोलना पाप नहीं माना जाता। शान्तिपर्व में ही सत्य का यह अपवाद "सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्। यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं

हम विविध कार्य करनेवालों के श्रम की उपयोगिता भलीभाँति समझ सकते हैं।

परन्तु खेद का विषय है कि प्राय: प्रत्येक देश में थोड़े-बहुत आदमी दलित पाये जाते हैं—कहीं रङ्ग-भेद के कारण, कहीं जाति-भेद के कारण, और कहीं धर्म, पेशे या किसी और कारण से। पिछले वर्षों में कुछ सुधार हुआ है, परन्तु अभी बहुत कार्य होना बाकी है। सिद्धान्त रूप से समानता और परस्पर सहयोग की बातें मानते हुए भी व्यवहार में बहुधा इन्हें भुला दिया जाता है। अनेक बन्धु नीच या अछूत समझे जाते हैं। इनसे समुचित सहानुभूति नहीं की जाती। इस प्रकार के विचारों में आमूल परिवर्तन होने की आवश्यकता है। इस कार्य में सब नागरिकों को सहायता करनी चाहिए। साथ ही दलित जातियों के आदमियों को समाज में अपना समुचित स्थान प्राप्त करने का शान्ति और धैर्य से निरन्तर उद्योग करना चाहिए; और, समय-समय पर मिलनेवाली बाधाओं या विफलताओं से निराश न होना चाहिए।

प्रत्येक देश की, दलित जातियों की समस्या कुछ-कुछ निराली होते हुए भी, यह बात सब के ध्यान में रखने की है कि कोई मनुष्य अपने जन्म (वंश) के कारण नीच या ओछे दर्जे का नहीं समझा जाना चाहिए। प्रत्येक आदमी किसी खास दशा में, और कुछ विशेष समय के लिए अपवित्र हो सकता है, परन्तु कोई आदमी जन्म भर के लिए, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए अछूत या दलित नहीं माना जाना चाहिए।

श्रमजीवियों की प्रतिष्ठा—सामाजिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है, कि समाज का प्रत्येक अंग, प्रत्येक सदस्य, उन्नतशील हो; वह यथेष्ट परिश्रम और प्रयत्न करनेवाला हो। कोई आदमी मुफ़्त-खोर या परावलम्बी न हो। समाज में श्रम और स्वावलम्बन का यथेष्ट मान होना चाहिए। जिस समाज में श्रमजीवियों की प्रतिष्ठा नहीं

होती, उसमें लोगों को श्रम से घृणा या अरुचि होने लगती है। कहीं-कहीं कुछ लोगों की यह धारणा हो जाती है कि कुछ भी उत्पादक कार्य न करनेवाले आदमियों का दर्जा ऊँचा है, उन्हें साधु महात्मा कहा जाने लगता है। इसके विपरीत, दिन भर मेहनत मजदूरी करनेवालों को छोटे दर्जे का माना जाता है। 'मजदूर' शब्द अपमान-सूचक समझा जाता है। जिस समाज में ऐसी स्थिति हो, उसकी उन्नति का मार्ग बन्द हुआ समझना चाहिए।

कितने ही आदमी यह सोचते हैं कि कुछ खास-खास कार्य करनेवाले, विशेषतया कुर्सी या गद्दी पर बैठे-बैठे कुछ लिखने-पढ़ने या नकल करने आदि का, मोहर्रिरी या मुन्शीगिरी का काम करनेवाले, समाज में अधिक प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं; और, शारीरिक परिश्रम करके अन्न या शाक-भाजी पैदा करनेवाले, कपड़ा बुननेवाले या लकड़ी, लोहे का काम करनेवाले और सड़कें और नालियाँ साफ करनेवाले का आदर-मान नहीं होना चाहिए। यह धारणा बड़ी भ्रमपूर्ण एवं हानिकारक है। सामाजिक उन्नति के लिए इस प्रकार के विचारों को सर्वसाधारण के मन से दूर कर देने की अत्यन्त आवश्यकता है। नागरिकों को याद रखना चाहिए कि प्रत्येक प्रकार का उत्पादक और उपयोगी श्रम आदरणीय है। जिस कार्य की समाज को आवश्यकता है; जिससे समाज की उन्नति या विकास में सहायता मिलती है, उसका यथेष्ट महत्व है, चाहे वह कुर्सी या गद्दी पर बैठकर किया जाय, या कुदाली अथवा झाड़ू हाथ में लेकर किया जाय। काम करने की शक्ति होते हुए, किसी नागरिक का श्रम न करना अनुचित है; यह अपराध माना जाना चाहिए।

दान धर्म का विचार—खेद है कि भारतीय समाज कुछ भी उपयोगी काम न करनेवाले महन्त पुजारी और साधु-संन्यासियों का श्रमजीवियों से कहीं अधिक आदर-मान कर रहा है; इस प्रकार वह लोगों को मुफ्तखोरी और आरामतलबी की प्रेरणा करता है, और

इसका कुफल भी भोग रहा है। हमारा सामाजिक कर्तव्य चाहता है कि दान-धर्म आदि के विचारों में आमूल परिवर्तन या क्रान्ति की जाय, और सर्वसाधारण में स्वावलम्बन की भावना का प्रचार हो।

निस्सन्देह जो आदमी वास्तव में साधु हैं, जो अपने सदुपदेशों या सेवा-कार्यों से समाज का कल्याण करते हैं, उनकी भोजन-वस्त्रादि की आवश्यकताओं की पूर्ति करना समाज का कर्तव्य है। परन्तु आलस्य, भंग और विलासिता का जीवन व्यतीत करनेवालों का, गृहस्थों की मेहनत की कमाई उड़ाते रहना कदापि उचित नहीं। इससे दूसरों को भी निकम्मा या ढोंगी बनने का प्रोत्साहन मिलता है।

प्रत्येक देश के नागरिकों में दानशीलता का होना अच्छी बात है। परन्तु दान-प्रणाली के विषय में सम्यक् विचार रखे जाने की आवश्यकता है। ऐसी संगठित व्यवस्था होनी चाहिए कि सहायता पाने के अधिकारियों को उचित सहायता अवश्य मिल जावे, और किसी कुपात्र को कुछ मदद न मिले। लंगड़े-लूले, अन्धे, बहरे आदि अपाहज भी जो-कुछ और जितना कार्य कर सकें, उतना अवश्य करें। भरसक उद्योग करने पर जिनका निर्वाह न हो सके, उन्हें ही सहायता दी जाय। हाँ, बालकों की या अ-कुशल श्रमजीवियों की इस विचार से भी सहायता की जानी चाहिए कि वे योग्यता प्राप्त करें और भविष्य के लिए अपने श्रम को समाज के लिए अधिक उपयोगी बना सकें। अस्तु, दानशीलता का दुरुपयोग न होना चाहिए। उससे देश में आलसियों और मुफ़्तख़ोरों की संख्या न बढ़नी चाहिए। उससे समाज का हित ही होना चाहिए।

समाज-सुधार का कार्य—अब हम समाज-सुधार के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं। इस कार्य के लिए लेख लिखने, व्याख्यान और उपदेश देने, तथा तरह-तरह से जनसाधारण को शिक्षित करने की बड़ी आवश्यकता बतायी जाती है। हम इन विविध कार्यों का महत्व जानते हुए भी, इनसे कहीं अधिक आवश्यकता इस

बात को समझते हैं कि सुधारक अपने-अपने जीवन को आदर्श बनावें। जिस काम को, वे चाहते हैं कि समाज करने लग जाय, उसे सब से पहिले वे स्वयं करके दिखावें; जिन कुरीतियों को उन्हें हटाना है, उन्हें वे अपने पास फटकने न दें, चाहे ऐसा करने से उन्हें समाज की कितनी ही निन्दा क्यों न सहनी पड़े। उदाहरण के लिए यदि एक नागरिक यह समझने लग गया है कि विवाह-शादी या मृतक-कर्म आदि में फजूलखर्ची न होनी चाहिए, तो वह अपने किसी भी ऐसे काम में व्यर्थ धन बर्बाद न करे। जब वह जानता है कि बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह या बेमेल विवाह से समाज की बहुत हानि होती है तो यही काफी नहीं है कि वह इन कामों को न करे (सम्भव है उसके लिए ऐसा करने का अवसर ही उपस्थित न हो), वरन् उसे चाहिए कि दूसरों के यहाँ होने-वाले ऐसे कार्यों में कभी सम्मिलित भी न हो।

लेखन और भाषण से यह काम अवश्य ही कठिन है, पर इसका समाज पर प्रभाव भी अधिक पड़ता है। इसलिए समाज-सुधार-प्रेमी नागरिकों को चाहिए कि अपने व्यवहार से दूसरों के लिए भी अच्छा आदर्श उपस्थित करें। वे मर्यादा या लोकाचार आदि के नाम पर समाज के किसी ऐसे सिद्धान्त को न मानें जो निस्सार या हानिकर हो। प्रचलित रीति-रस्मों के सम्बन्ध में, उन्हें चाहिए कि वे उनको विवेक और बुद्धि की कसौटी पर कस कर अपना कर्तव्य निश्चित करें, और व्यर्थ दूसरों की हाँ में हाँ मिलाकर समाज को हानि न पहुँचावें।

जिस प्रकार सुधारकों को अनिष्टकारी कार्यों से बचने की आवश्यकता है, वैसे ही उन्हें अच्छे कार्यों को प्रोत्साहन देने की भी आवश्यकता है। जो आदमी बहुमत का विरोध सहते हुए भी सत्कार्य करने का साहस करें, उनका साथ देना प्रत्येक सुधारक का कर्तव्य है। साथ ही सार्वजनिक उत्सवों में ऐसे कार्यों का उल्लेख करके सर्व-साधारण की उनके प्रति सहानुभूति बढ़ानी चाहिए। ऐसे प्रयत्नों से अच्छे व्यवहार और रीति-रस्मों के पक्ष में लोकमत जाग्रत करना

चाहिए। सामाजिक कर्तव्य पालन न करनेवालों की स्पष्ट—पर असभ्य नहीं—निन्दा होनी चाहिए। फिर, उन्हें अपने कर्तव्यों की अवहेलना करने का साहस न होगा। जब लोकमत संगठित नहीं होता, दस आदमी निन्दा करते हैं तो पांच-सात हाँ में हाँ मिलाने को भी तैयार हो जाते हैं, तब कोई सुधार होना बहुत कठिन होता है। सामाजिक कुरीतियों का अवलम्बन करनेवाले, निस्संदेह दोषी हैं, पर उन्हें चुप-चाप सहते रहना, उनका विरोध न करना भी तो बड़ा पाप है।

अब तक हमने नागरिकों के उन कर्तव्यों का विचार किया, जो उन्हें अपने समकालीन आदमियों तथा समाज के प्रति पालन करने चाहिएँ। क्या उनका अपने पूर्वजों के प्रति भी कुछ कर्तव्य है ?

पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता—किसी भी देश के निवासी एक समय में किस सीमा तक उन्नत हैं, यह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि उनके पूर्वजों ने अपने समय में कितना कार्य किया; और वर्तमान निवासियों ने उससे कहाँ तक लाभ उठाया। जिन देशों के आदमी अब अपने कारनामों से संसार को चकित कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश डेढ़-दो हजार वर्ष पहिले बिलकुल असभ्य थे। उनके निवासियों ने धीरे धीरे परिश्रम करके स्वयं लाभ उठाया और अपने अनुभव के फल से अपने उत्तराधिकारियों का हित किया। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयत्न होते रहने से ही भौतिक या वैज्ञानिक उन्नति होती है। यही बात मानसिक जगत में चरितार्थ होती है। एक पीढ़ी अपने विचार साहित्य या कला आदि के रूप में छोड़ देती है; आनेवाली पीढ़ियाँ उन्हें मनन करती हैं, और विकास की आगे की मंजिल तय करने के लिए तैयार होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश के नागारिक साधारणतः सभी पूर्वकालीन पुरुषों के, और विशेषतया अपने पूर्वजों के, बहुत ऋणी होते हैं। उन्हें उनके प्रति भक्ति तथा कृतज्ञता के भाव बनाये रखने चाहिएँ। विद्यार्थियों को पढ़ाये जानेवाले इतिहास

ऐसे होने चाहिएँ कि उनसे इस विषय में समुचित शिक्षा मिले; और भावी नागरिक अपने पूर्वजों का यथेष्ट अभिमान करने लगें।

जगद्गुरु भारत को श्रद्धाञ्जलि—यह स्पष्ट है कि किसी देश की सभ्यता और संस्कृति जितनी अधिक दीर्घकालीन होगी, उतना ही वह अधिक श्रद्धा और भक्ति का अधिकारी है। योरप, अमरीका के आधुनिक उन्नत राज्य प्रायः रोम और यूनान के प्रति कृतज्ञता सूचित किया करते हैं। वे भूल जाते हैं कि मिस्र, बेबिलोनिया, ईरान, चीन और भारत इनसे कहीं अधिक वयोवृद्ध हैं; और, इनमें भारतवर्ष का विशेष स्थान है। काल की निर्दयी लहरों ने इस देश की बहुत सी सम्पत्ति बहा डाली है, तथापि संसार के भिन्न-भिन्न देश इस वृद्ध भारत के बहुत ऋणी हैं; स्वयं रोम और यूनान ने यहाँ के साहित्य, कला-कौशल आदि से बड़ा लाभ उठाया है। इस समय सभ्य संसार की दृष्टि दूर तक नहीं जाती, इतिहास पक्षपात और दुर्भावों से भरा पड़ा है। परन्तु पुरातत्व-वेत्ताओं के अन्वेषण और आविष्कार से एक दिन सत्य की जीत होगी। तब निस्संदेह, सब देशों के निवासी पितामह भारत को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करना अपना कर्तव्य समझेंगे।

छठा अध्याय

धार्मिक कर्तव्य

"हमारा लक्ष्य जाति की रक्षा और उन्नति होना चाहिए, और जो नियम हमारे इस काम आयेगा, वही हमारे लिए धर्म कहलायेगा।"

—भाई परमानन्द

विविध धर्म और उनके विवाद-ग्रस्त विषय—धार्मिक कर्तव्यों का विचार करने के लिए हमें जान लेना चाहिए कि धर्म किसे कहते हैं, और जुदा-जुदा धर्मों के अनुयाइयों की एक दूसरे के प्रति प्रायः कैसी भावना रहती है। आजकल प्रायः धर्म का अर्थ मत या मजहब समझा जाता है, इसके अन्दर वे बातें मानी जाती हैं, जो मनुष्य का, परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करती हैं, और जो खासकर आदमी के मरने पर परलोक में हितकर होती हैं। इस विचार को लेकर संसार में नाना प्रकार के मत-मतांतर प्रचलित हैं। यही नहीं; एक-एक राज्य में कई-कई धर्मों के अनुयायी रहते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म अपने-अपने ढङ्ग से मोक्ष और अनन्त सुख शान्ति प्राप्त करने का मार्ग बताता है। ईसाई धर्म का आदेश है कि ईसा मसीह परमात्मा का प्यारा पुत्र है, उस पर ईमान (विश्वास) लाना चाहिए। इसलाम धर्म का कथन है कि मोहम्मद साहब आखिरी पैगम्बर (अवतार) हुए हैं, उनकी मार्फत बहिश्त (स्वर्ग) के सुख-भोग मिल सकते हैं। बौद्ध धर्मानुयायी बतलाते हैं कि जीवों पर दया करते हुए 'बुद्धो मे शरणम्' का जाप करो। अनेक हिन्दू शिव, कृष्ण, राम या शक्ति आदि को अपना-अपना इष्ट मानते हैं।

इन विविध-धर्मों में पारस्परिक मत-भेद के अनेक प्रश्न हैं—जीव कहाँ से आया, मरने के बाद कहाँ जायेगा, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह कब तक रहेगी, स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है, स्वर्ग और नरक कहाँ और कैसे हैं, ईश्वर साकार है या निराकार, उसकी पूजा किस तरह करनी चाहिए, उसके दर्शन किस तरह हो सकते हैं, इत्यादि। इन प्रश्नों पर प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपना-अपना पृथक् पृथक् मत रखें तो कोई हर्ज नहीं है। परन्तु दिक्कत तो यह है कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने आप को सच्चा और ज्ञानी, एवं दूसरों को झूठा और मूर्ख समझते हैं; अपने धर्म के कर्मकांड

को धार्मिक कृत्य, और दूसरों के धार्मिक कृत्यों को पाखंड मानते हैं। यही नहीं; बहुधा एक धर्म के अनुयायी तर्क से, शारीरिक बल के प्रयोग से, अथवा आर्थिक प्रलोभन आदि द्वारा दूसरे धर्मवालों को अपने धर्म में लाने की कोशिश करते हैं। अनेक आदमियों ने अपने स्वार्थ, अहंकार, ऐश्वर्य और उन्माद आदि को धर्म का रूप दे रखा है। ये समाज में विविध अनर्थ करते हैं और भोले-भाले आदमियों को अपने चंगुल में फँसाये रहते हैं। इस प्रकार अवनत राज्यों में प्रायः एक धर्म वालों का समूह दूसरे धर्म वालों के समूह का विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी होता है, और सर्व-साधारण की बहुत सी शक्ति और समय व्यर्थ के वाद-विवाद और कलह आदि में नष्ट होता है।

सहनशीलता की आवश्यकता—हमें सोचना चाहिए कि धर्म-विभिन्नता अर्थात् अलग-अलग धर्मों का होना स्वाभाविक है। यह विभिन्नता थोड़ी-बहुत प्रत्येक देश में रही है, इस समय है, और इसके भविष्य में बने रहने का अनुमान है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की प्रकृति, विचार, भाव, बुद्धि आदि जुदा-जुदा होती है, तो यह कैसे सम्भव है कि सब के धर्म सम्बन्धी विचार एक ही तरह के हों! फिर, धर्म-विभिन्नता स्वयं कोई अनिष्टकारी बात नहीं; हाँ, नागरिकों में सहनशीलता की बहुत आवश्यकता है। जब कोई धार्मिक कार्य हमारी इच्छा के विरुद्ध होता दिखाई पड़े तो हमें अपने आप से बाहर होकर लड़ाई-झगड़ा करने पर उतारू न हो जाना चाहिए। हमारी असहिष्णुता, अनुदारता, मजहबी दिवानापन और अनुचित व्यवहार, दूसरों की दृष्टि में हमारे धर्म की महत्ता नहीं बढ़ावेंगे। शारीरिक (पाशविक) बल से प्राप्त विजय, विजय नहीं होती, वह पराजय है। दया, परोपकार, दूसरों की माँ-बहिनों की इज्जत, तथा संकट-ग्रस्तों की सहायता करके ही हम दूसरों को यह बता सकते है कि हमारा धार्मिक आदर्श कितना महान् है, इसी से हम उनके हृदयों पर विजय पा सकते हैं; धार्मिक असहिष्णुता से कदापि नहीं। भारतवर्ष तो

अनेक धर्मों का स्रोत तथा संगम ही है। यहाँ सहिष्णुता की विशेष आवश्यकता है।

धार्मिक सुधार—यदि हम गम्भीरता से सोचें तो हमें अपने-अपने धर्म में कुछ बातें ऐसी अवश्य मिल सकती हैं, जो बुद्धि-संगत नहीं; केवल अन्ध-विश्वास या झूठी श्रद्धा पर अवलम्बित हैं। यही नहीं; कुछ बातें प्रत्यक्ष हानिकर हैं, जनता की विचार-स्वतन्त्रता मानसिक विकास और सामाजिक व्यवहार में बाधक हैं। ऐसी बातों की समय-समय पर खोज और जाँच की जानी चाहिए। अवश्य ही यह कार्य हर किसी के करने का नहीं; सुयोग्य, बुद्धिमान, विचारवान और निस्वार्थी एवं गम्भीर सज्जनों की सुसंगठित समितियों द्वारा किये जाने का है। प्रत्येक राज्य में प्रत्येक धर्म के सम्बन्ध में ऐसी समितियों की योजना हो तो भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों द्वारा होनेवाला बहुत कुछ 'अधर्म' सहज ही रोका जा सकता है, और प्रत्येक धर्म अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण बनाया जा सकता है। यदि हम अपने धर्म में कुछ सुधार की बातों का प्रस्ताव करें, तो इसमें किसी को धर्म का अपमान होने की बात नहीं सोचनी चाहिए। अच्छी से अच्छी वस्तु भी पीछे जाकर, संस्कार के अभाव में, कुरूप या हानिकर हो जाती है। आशा है, नागरिक अपने धार्मिक कृत्यों में इस बात का यथेष्ट विचार रखेंगे।

नागरिक धर्म—हरेक धर्म या सम्प्रदाय वालों की विविध संस्थाओं को चाहिए कि अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा, स्वास्थ्य, कला-कौशल आदि को बढ़ावें, और नागरिकों को अधिक से अधिक योग्य बनाने का प्रयत्न करें। हम याद रखें कि नागरिक धर्म (लोक-हित) सब साम्प्रदायिक धर्मों से ऊँचा है। हमें अपने राष्ट्र की उन्नति और रक्षा करनी चाहिए। पर इसके साथ ही हमें अन्य देशों के मनुष्यों से भी प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करते रहना चाहिए। धर्म

हमें सिखाता है कि सब मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी आदि जीव भी एक परब्रह्म परमात्मा की सृष्टि हैं। इस प्रकार हमारी दया और प्रेम का क्षेत्र और भी विस्तृत होना चाहिए। इसका विशेष विचार आगे 'विश्व-बंधुत्व' शीर्षक अध्याय में किया जायगा।

सातवाँ अध्याय

ग्राम और नगर के प्रति कर्तव्य

"रोशनी करना, गरीबों के लिए मकानों की व्यवस्था करना, स्वास्थ्य, नगरों को सुन्दर बनाना, सार्वजनिक उद्यान, अजायबघर, थियेटर, पुस्तकालय, बच्चों के दिलबहलाव की जगह ये तथा अन्य इस प्रकार के विषय ऐसे हैं, जो हम में से अधिक से अधिक बुद्धिमानों के विचारार्थ काफी हैं।"

—वी० एस० शास्त्री

ग्राम और नगर की उन्नति करना, नागरिक कर्तव्य है—हमारा सांसारिक जीवन इस प्रकार सम्बद्ध है कि यदि कोई चाहे कि केवल अपना ही कल्याण करले तो उसे बड़ी सीमा तक सफलता नहीं मिल सकती। उदाहरण के लिए जब हमारे नजदीक के स्थान में प्लेग आदि कोई बीमारी फैले तो उसका हमारे यहाँ आना सहज है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि स्वस्थ रहें तो यह भी आवश्यक है कि अपने नगर और ग्राम-निवासियों के स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें और उनमें स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का प्रचार करें। इसी प्रकार यदि हमारे चारों ओर अशिक्षित, मूर्ख या दुराचारी अथवा नशेबाज लोगों

का निवास है तो उसका हमारे मन पर भी बुरा प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। उनके नरककुण्ड या अज्ञान-सागर में पड़े रहने की दशा में हम सुख का उपभोग नहीं कर सकते। बस, अपने ग्राम या नगर की उन्नति और सुधार में हाथ बँटाना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

ग्राम-सुधार—सभी राज्यों में थोड़ी-बहुत संख्या गाँवों की होती है, और कुछ राज्य तो भारतवर्ष की तरह देहातों के ही देश कहे जा सकते हैं। इससे ग्राम-सुधार के कार्य का महत्व स्पष्ट है। आधुनिक सभ्यता में गावों की बुरी दशा है। प्रायः देखने में आ रहा है कि गाँवों में जो आदमी कुछ शिक्षित या पैसे वाले हुए, उनका वहाँ मन ही नहीं लगता। वे शहरों में आकर रहते और अपनी रुचि और शौक के साधनों का उपभोग करते हैं। इससे गाँवों में धन और मस्तिष्क दोनों का दिवाला निकला रहता है। सुधारकों को चाहिए कि दूर-बैठे उपदेश देकर संतुष्ट न हो जायँ, वरन् कुछ कष्ट उठाकर गाँवों में जाकर रहें, और उन्हे ऊपर उठाने का प्रयत्न करें।

ग्राम-सुधार के विविध विषयों में, स्थानीय परिस्थिति के अनुसार कुछ भिन्नता हो सकती है और प्रायः होती है; तथापि निर्धनता, अविद्या, अस्वच्छता, मुकदमेबाजी और बीमारियों की समस्या किसी-न-किसी रूप में हर जगह पायी जाती है। इन्हें हल करने के लिए सामूहिक प्रयत्न किये जाने चाहिएँ। सेवा-समितियों, सहकारी समितियों, पंचायतों, कृषि-सुधार और शिक्षा-प्रचार समितियों आदि की स्थापना की बड़ी आवश्यकता है।

नगर-सुधार—आजकल नगरों की संख्या और सीमा बढ़ती जा रही है। इसके साथ ही नगर-सुधार की समस्या भी बड़ा जटिल रूप धारण कर रही है। नगरों का बाहरी रूप लुभावना या आकर्षक होने पर भी उसके अन्दर बड़ा घुन-सा लगा मालूम होता है। प्रायः नगर-निवासियों में संयमी और सात्विक जीवन तथा उदारता के भावों

की कमी होती जा रही है; शौकीनी और आडम्बर का रोग बढ़ता जा रहा है। जिन लोगों की साधारण आय है, उन्हें स्वाभिमान पूर्वक रहना कठिन हो जाता है। जिन नवयुवकों में यथेष्ट आत्मबल न हो, उन्हें नगरों का वातावरण सहज ही पथ-भ्रष्ट कर देता है। अतः यहाँ ऐसी संस्थाओं की बड़ी आवश्यकता है, जो दूसरी बातों के साथ लोगों को सादगी के जीवन की ओर झुकावें; बेकारी, मनोरञ्जन, औद्योगिक शिक्षा, और मादक पदार्थों के सेवन, आदि के प्रश्नों को हल करें।

आदर्श ग्राम और नगर—कोई भी व्यक्ति केवल अपने लिए नहीं है; वह कुछ अंश में दूसरों के लिए भी अवश्य है। इसलिए हरेक आदमी को गाँव और नगर के सुधार का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। जिस गाँव या नगर से उसका विशेष सम्बन्ध है, उसको तो उसे अपने ढङ्ग का आदर्श स्थान बनाने में सहायक होना चाहिए। प्रत्येक गाँव या नगर में एक-एक ग्राम-सभा, नगर-सभा, या सेवा-समिति आदि का सङ्गठन होना चाहिए, जो अपने समान उद्देश्य रखनेवाली अन्य संस्थाओं—पंचायतों, जिला-बोर्डों, तथा म्युनिसिपेलटियों से व्यावहारिक सहानुभूति रखे। जो काम इन संस्थाओं द्वारा कराये जा सकें, उन्हें उनसे कराते हुए शेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नागरिकों को स्वयं उद्योग करना चाहिए। इस प्रकार के निरन्तर प्रयत्न से ही हमारे ग्राम और नगर क्रमशः उन्नत होंगे; और वे दूसरों के लिए आदर्श का काम देंगे।

अपने नगर का अभिमान; यूनानियों की प्रतिज्ञा—हमें अपने ग्राम और नगर का अभिमान होना चाहिए, अपने कार्य और व्यवहार से दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित करना और नागरिक जीवन की उन्नति करनी चाहिए। यूनानियों की यह नागरिक प्रतिज्ञा सब के लिए विचारणीय है—"यह हमारा नगर है, हम अपनी

कायरता या बेईमानी के किसी काम से इसका अपमान न करेंगे, न हम अपने दुखी साथियों का कार्य-क्षेत्र में साथ छोड़ेंगे। हम इस नगर की पवित्र वस्तुओं तथा आदर्शों की रक्षा के लिए लड़ेंगे, चाहे हम अकेले हों, या बहुतों के साथ हों। हम नगर के नियमों का आदर तथा पालन करेंगे, और उनकी अवहेलना करनेवाले बन्धुओं में भी ऐसा ही भाव भरने का यथाशक्ति यत्न करेंगे, हम नागरिक कर्तव्यों की सार्वजनिक भावना को बढ़ावेंगे। इस प्रकार इन सब उपायों से हम इस नगर को, जैसा यह हमें सौंपा गया है, उसकी अपेक्षा आनेवाली पीढ़ी के लिए अधिक महान, उन्नत और सुन्दर बनायेंगे।"

आठवाँ अध्याय

राज्य के प्रति कर्तव्य

"परिवार अच्छा है, और मनुष्य का अपनी स्त्री और पुत्र में जो आनन्द मिलता है, वह भी अच्छा है; परन्तु राज्य इनसे महान् है, कारण कि वह इनका रक्षक है, उसके बिना घर नष्ट हो जायगा।"

—दि यंग सिटीज़न

पिछले अध्याय में यह बताया गया कि नागरिकों का अपने गाँव या नगर के प्रति क्या कर्तव्य है। अब राज्य के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

राज्य और नागरिकों का सहयोग—नागरिकों का कर्तव्य है कि अपने राज्य के प्रति प्रगाढ़ भक्ति और आदर का भाव रखें, और उसके सम्मान की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहें। स्वदेश के या

विदेश के किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने राज्य को अपमानित नहीं होने देना चाहिए। वास्तव में राज्य और नागरिकों का एक ही लक्ष्य और एक ही स्वार्थ है, दोनों को मिलकर राष्ट्र-हित-साधन में लगना चाहिए। दोनों का सहयोग दोनों के लिए कल्याणकारी होगा; नागरिक अपने राज्य के वैभव को बढ़ाएँगे, और राज्य नागरिकों की विविध शक्तियों के विकास में सहायक होगा।

[यह बात स्वाधीन राज्यों के सम्बन्ध में ही लागू होती है। पराधीन देशों में ऐसा नहीं होता; वहाँ प्रायः शासकों और शासितों का स्वार्थ जुदा-जुदा होता है; राजभक्ति और देशभक्ति परस्पर विरोधी बातें होती हैं। उस दशा में राज्य और नागरिकों में सहयोग होना अस्वाभाविक है।]

स्वदेश-रक्षा—राज्य की रक्षा करना नागरिकों का मुख्य कर्तव्य है। इस कार्य का उत्तरदायित्व कुछ वेतनभोगी सैनिकों पर नहीं समझा जाना चाहिए। आवश्यकता होने पर, प्रत्येक नागरिक को उस पवित्र कार्य में भाग लेने के लिए तैयार रहना चाहिए। जिस देश के निवासी अपने यहाँ की अशांति रोकने के लिए भी दूसरों के मोहताज हों, जिस राज्य के नागरिक शत्रुओं से अपनी रक्षा नहीं कर सकते, उसकी दशा चिन्तनीय है; उसका भविष्य अन्धकारमय है।

परन्तु नागरिक स्वदेश को शत्रुओं के आक्रमण से बचाने का प्रयत्न तभी ठीक तरह कर सकते हैं, जब उन्हें सैनिक सेवा के यथेष्ट पद प्राप्त हों। कोई उत्तरदायी पद समुचित शिक्षा के बिना दिया जाना उचित नहीं है। इसलिए ऊँची से ऊँची सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने का अवसर तथा अधिकार प्रत्येक नागरिक को होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार की कानूनी या आर्थिक बाधा नहीं होनी चाहिए।

अब हम यह विचार करते हैं कि नागरिकों को सैनिक-सेवा के लिए बाध्य किया जाना कहाँ तक उचित है।

सैनिक-सेवा—इस विषय में दो मत हैं:—(१) राज्य, नागरिकों के लिए बहुत से उपयोगी कार्य करता है, तो बदले में नागरिकों को—आवश्यकता होने पर अपने प्राण देकर भी—उसकी रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए। अतः सैनिक-सेवा अनिवार्य होनी चाहिए। (२) किसी मनुष्य की जान लेना अपराध है, और सैनिक-सेवा में यह कार्य करना ही पड़ता है। इसलिए यह बात नागरिकों की इच्छा पर छोड़ देनी चाहिए। अनिवार्य सैनिक-सेवा के बजाय सेना के लिए स्वेच्छा-पूर्वक भरती करना अधिक न्याय-संगत है।

आजकल बहुधा राज्यों में राज्य-विस्तार, 'सभ्यता' के प्रचार, तथा प्रभाव-क्षेत्र बनाने आदि के निमित्त अपनी-अपनी सेना के दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति हो रही है। ऐसी दशा में नागरिकों की जबरदस्ती भरती सर्वथा अनुचित है। इसका कदापि समर्थन नहीं किया जा सकता। हाँ, जो राज्य धर्म-युद्ध करता है, आत्मरक्षा के लिए, या निस्वार्थ भाव से दूसरों की रक्षा के लिए, अपनी सेना रणक्षेत्र में ले जाता है, उसकी सेना में भरती होना नागरिक का कर्तव्य है। परन्तु इस दशा में भी, हमें राज्य की कानूनी जबरदस्ती पसन्द नहीं, यह नागरिकों की इच्छा पर निर्भर रहनी चाहिए। अच्छा, इस बात का निश्चय कौन करे कि कोई युद्ध धर्म-युद्ध है या पाप-युद्ध? राज्य तथा व्यक्ति दोनों इसका विचार कर सकते हैं। यदि किसी आदमी को पूरा विश्वास हो जाये कि युद्ध अनुचित और अन्याय-युक्त है, तो उसका कर्तव्य है कि राज्य के पक्ष में लड़ने से इनकार करदे।

स्वदेशोन्नति—स्वदेशोन्नति करना नागरिकों का स्वाभाविक कर्तव्य है। इसके कई अंग हैं, यथा सार्वजनिक-शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य-रक्षा, आजीविका की सुव्यवस्था, उपयोगी आविष्कार, साहित्य-वृद्धि, समाज-सुधार, राजनैतिक विकास आदि। यह आशा नहीं की जा सकती कि कोई व्यक्ति इन कार्यों सम्बन्धी सभी आन्दोलनों में भाग

ले। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि जिस विशेष कार्य में उसकी रुचि और योग्यता हो, उसमें वह भरसक योग दे; हाँ, सहानुभूति सब से रखे। विशेषतया पराधीन देशों में प्रत्येक नागरिक को देश में होनेवाले उन सब आन्दोलनों से सहानुभूति रखना आवश्यक है, जो देश की परतंत्रता हटाने में सहायक हों।

देशभक्ति—स्वदेशोन्नति करने के लिए नागरिकों में देशभक्ति की उच्च भावना होनी चाहिए। जिस भूमि में हमारे पूर्वज पैदा हुए, और उन्होंने अपना जीवन बिताया, जिसमें हमने जन्म धारण किया, जहाँ के अन्न-पानी आदि से हमारी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है, जो हमारी भावी सन्तान की जन्मभूमि एवं कर्मभूमि होगी, उसके प्रति आदर-मान और भक्ति-भाव न रखना मनुष्यत्व से गिर जाना है।

जो नागरिक अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करते हैं और इस कार्य में विविध कठिनाइयों और बाधाओं से भयभीत नहीं होते, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह से विचलित नहीं होते, यहाँ तक कि आवश्यकता होने पर देश-हित के लिए अपने प्राणों को भी न्योछावर करने से नहीं हिचकते, वही सच्चे देश-भक्त हैं। देश-सेवकों के लिए मरने का प्रसंग कभी-कभी ही आता है, और बहुत-से आदमी क्षणिक जोश में आकर भी मृत्यु का आह्वान कर लेते हैं। हमारी सम्मति में इससे कहीं अधिक कठिन कार्य जीवित रहते हुए, नाना प्रकार की घोर विपत्तियों का निरन्तर सामना करते हुए देश-भक्ति का परिचय देना है। इसका प्रसंग प्रति दिन आ सकता है, और इसकी प्रत्येक देश को, और खासकर पराधीन देशों को सदा आवश्यकता होती है।

राज्य के नियमों का पालन—[illegible] है कि नागरिक राज्य के नियमों का पालन करें और उनके निर्धारित टैक्सों को देते रहें। निस्संदेह, राज्य को नागरिकों के मत के विरुद्ध न

तो कोई नियम बनना चाहिए, और न किसी प्रकार का टेक्स ही लगना चाहिए। हाँ, नागरिकों में पारस्परिक मतभेद होने की दशा में प्रजातंत्र के आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार बहुमत से काम चलाना होता है। ऐसी दशा में जिन नागरिकों के मत के विरुद्ध निर्णय होता है, उन्हें भी नियम का (जहाँ तक वह धर्म, नीति या उनकी आत्मा के विरुद्ध न हो) पालन करना चाहिए। वे यह कहकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते कि वे उससे सहमत नहीं हैं। नियम बनने से पहले उन्हें अधिकार था कि वे इसके विरुद्ध आन्दोलन करते। पर जब उनके नागरिक बन्धुओं ने एक बात बहुमत से तय करदी है तो उसे मानना उनका कर्तव्य है। हाँ, कोई नियम बन जाने पर भी, वे चाहें तो उन्हें यह अधिकार है कि उसे संशोधित या परिवर्तित करने का उद्योग करें। परन्तु जब तक वे ऐसा करने में सफल न हों, उन्हें उसका पालन करना चाहिए।

राजनैतिक ज्ञान की आवश्यकता—अपने राज्य की विविध प्रकार की राजनैतिक सेवा या उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को समुचित राजनैतिक ज्ञान हो, उन्हें चाहिए कि अपने राज्य की शासन-पद्धति आदि से भली भाँति परिचित हों, और समय-समय पर उसके नियमों के सम्बन्ध में यह सोचें कि वे कहाँ तक न्यायोचित तथा उपयोगी हैं, उनमें क्या सुधार या संशोधन आदि होना चाहिए; अन्य देशों में, किस स्थिति में ऐसे नियम बने थे, उनसे क्या लाभ या हानि हुई, और, हमारे देश में उनका क्या प्रभाव होगा, इत्यादि। इन बातों पर अच्छी तरह विचार करने के लिए राजनैतिक विषयों के अध्ययन और मनन करने की बड़ी आवश्यकता है। पराधीन देशों के निवासियों को तो इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

नवाँ अध्याय

कर्तव्यों का संघर्ष

प्रत्येक कार्य के आरम्भ करने के पूर्व, चाहे वह कार्य देश के लाभ के लिए हो या अपने वंश के कल्याण के लिए हो, यह निश्चय करलो कि यदि वह कार्य सब मनुष्यों द्वारा और सबके लिए किया जाय तो उसका फल मानव समाज के लिए लाभदायक होगा या हानिकारक। यदि तुम्हरा विवेक कहता है कि इससे हानि होगी तो ठहर जाओ, उसे मत करो।

—मेजिनी

प्राक्कथन—संसार में प्रत्येक व्यक्ति के जो विविध कर्तव्य होते हैं; उनका विवेचन हो चुका। अब हमें यह सोचना है कि यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्यों का परस्पर में विरोध हो तो क्या करें; अथवा जब एक ही प्रकार के दो कर्तव्य हमरे सामने उपस्थित हों तो किस को प्रधानता दें; क्या भिन्न-भिन्न स्थिति और रुचि के लोगों का कर्तव्य समान ही होता है, या उसमें देश-काल का कुछ लिहाज रखा जाना चाहिए।

अपने प्रति कर्तव्य और पारिवारिक कर्तव्य—कल्पना करो कि एक घर का कोई आदमी बीमार है, रात में उसके पास बैठे और जागते रहना आवश्यक है। हमारा अपने प्रति जो कर्तव्य है, उसके अनुसार हमें स्वस्थ रहना, और स्वस्थ रहने के लिए यथेष्ट विश्राम करना चाहिए। परन्तु परिवार के प्रति जो हमारा कर्तव्य है, उसका पालन करने के लिए, हमें रोगी की सेवा करनी चाहिए और इसके वास्ते रात को जागना चाहिए। इस प्रकार दो कर्तव्यों का

संघर्ष है, क्या करें ? यदि दूसरे आदमी की सहायता लेकर कोई समझौते की सूरत निकल आवे, तो कुछ कहना नहीं है। पर जब ऐसा न हो सके तब किस कर्तव्य को प्रधानता दी जाय ? निस्संदेह, हमें यथाशक्ति ऐसा अवसर न आने देना चाहिए कि हम अस्वस्थ होकर दूसरों से सेवा करायें। परन्तु यह भी तो स्मरण रखना होगा कि हमारे स्वास्थ्य का, और आखिर हमारे जीवन का, ही उद्देश्य क्या है। क्या हमारी जिन्दगी हमारे ही लिए है, क्या हमारा शरीर और शक्तियाँ दूसरों के लिए नहीं हैं ?

पारिवारिक कर्तव्य और राष्ट्रीय कर्तव्य—अच्छा; कोई पराधीन देश आजादी के लिए छटपटा रहा है। एक घर में एक आदमी, एक स्त्री और दो बच्चे हैं। आदमी के मन में आता है कि राजनैतिक आन्दोलन में खूब भाग लेकर अपने राष्ट्रीय कर्तव्य का पालन करूं। परन्तु, जब कि उसकी गैरहाजरी में उसके आश्रितों का पालन-पोषण ठीक तरह न होने की पूरी आशंका है तो उस आदमी के अपने राष्ट्रीय कर्तव्य पालन करने से क्या उसके पारिवारिक कर्तव्य की अवहेलना न होगी ? यद्यपि मनुष्य-स्वभाव और सामाजिक व्यवस्थाओं की निर्बलताओं को देखते हुए सर्व-साधारण से बड़ी आशा नहीं की जा सकती, तथापि क्या राष्ट्र-हित के सामने पारिवारिक हित का त्याग करने का आदर्श रखना उचित नहीं है ?

धार्मिक कर्तव्य और पारिवारिक कर्तव्य—धार्मिक कर्तव्य का पारिवारिक कर्तव्य से विरोध होने के अनेक उदाहरण इतिहास-प्रसिद्ध हैं। महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, और दयानन्द के अपने-अपने घर और परिवार को छोड़कर चले जाने से उनके माता-पिता आदि को बहुत कष्ट हुआ, परन्तु यदि ये महानुभाव अपने पारिवारिक कर्तव्य में ही लगे रहते तो इनका वह धार्मिक उद्देश्य कहाँ पूरा होता जिसके लिए आज भी देश विदेश इनके इतने ऋणी हैं ! इस दशा

में पारिवारिक कर्तव्य की जो अवहेलना की गयी, क्या वह उचित न थी ? जबकि इन महान् व्यक्तियों के हृदयों में सत्य की जिज्ञासा और धर्म-प्रचार का भाव वास्तव में प्रबल था, और इसके लिए उन्होंने बड़े-बड़े कष्ट सहर्ष उठाये तो उनके निर्णय को अनुचित कहने का दुस्साहस कौन करेगा ?

इससे हमारा यह आशय नहीं कि हम सर्वसाधारण को पारिवारिक कर्तव्य की अवहेलना का आदेश करते हैं; हाँ, विशेष दशा में—बृहत् जनता के वास्तविक हित, और अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा के पालन की तुलना में—हम उसे अपेक्षाकृत गौण स्थान दे सकते हैं।

राष्ट्रीय कर्तव्य तथा व्यक्तिगत उदारता आदि का प्रश्न—अब पाठक एक ऐतिहासिक घटना पर विचार करें। वीर पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी को हरा दिया है, परन्तु गोरी सरदार कपट से क्षमा-याचना करता है। भोला-भाला पृथ्वीराज अपने शरणागत की रक्षा करता है। व्यक्तिगत दृष्टि से पृथ्वीराज की दयाशीलता प्रशंसनीय है, परन्तु भारतवर्ष में तो इस गुण की अति हो गयी, इसने राष्ट्र को सदा के लिए विदेशी चंगुल में फँसा दिया। भारतवासियों ने व्यक्तिगत गुणों की प्राप्ति में पराकाष्ठा करदी, पर राष्ट्रीय दृष्टि से विचार न किया। इसी का यह परिणाम है कि यहाँ के कितने ही आदमियों के, संसार भर में मान्य होने पर भी, उनके राष्ट्र की कहीं कुछ पूछ नहीं।

कहा है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत'। दया आदि व्यक्तिगत गुणों की भी अधिकता बहुत बुरी होती है। हमें परिस्थिति का विचार करके ही उनका उपयोग करना चाहिए। राष्ट्रीय कर्तव्य की अवहेलना करने पर वर्षों ही नहीं, पीढ़ियों तक उसका कुफल भुगतना होता है। देश पर आक्रमण करनेवालों से व्यवहार करते समय, हमें इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना आवश्यक है।

क्या हमें सदा अपने देश का समर्थन करना चाहिए—अच्छा; यदि हमारा राष्ट्र गलत रास्ते पर जा रहा हो, और किसी देश से अनुचित व्यवहार या किसी पर अत्याचार कर रहा हो तो उस दशा में हमारा क्या कर्तव्य है ? क्या हम अपनी जन्मभूमि का पक्ष लेकर उसके अनुचित कार्यों का भी समर्थन करें, या मौन धारण करलें, या उसका घोर विरोध करने का साहस करें ? क्या इस विषय में हमें श्री० वर्नार्ड हौटन, सर विलयम डिग्बी और महामना एण्ड्रूज जैसे अंगरेजों का आदर्श सामने रखना उचित न होगा, जिन्होंने इंगलेंड को भारत से अनुचित व्यवहार करते देख, अपने देश के विरुद्ध आवाज उठायी और यथाशक्ति उसे ठीक रास्ते पर लाने का यत्न किया ? ऐसा करने से इन महाशयों ने अपने देश-बंधुओं की निन्दा सही; पर न्याय का पक्ष लेकर इन्होंने अपने देश की भी कम सेवा न की, क्योंकि इनके इस व्यवहार के कारण अनेक विचारशीलों के हृदय में इंग्लैंड के लिए अब जितनी भी श्रद्धा है, वह उस दशा में कदापि न रहती, जब इंग्लैंड में ऐसी खरी बातें और कटु सत्य कहकर, न्याय-पक्ष का समर्थन करनेवाले पुत्र-रत्न न होते !

एक ही प्रकार के दो कर्तव्य—अब कर्तव्यों के संघर्ष का दूसरी तरह का उदाहरण लें। एक आदमी को, भिन्न-भिन्न स्थानों से, दो मित्रों के बीमार होने की सूचना एक ही साथ मिलती है। वह पहले कहाँ जाय ? सम्भव है कि एक की बीमारी में इतने दिन रहने की आवश्यकता हो जाय कि फिर दूसरे की सेवा-सुश्रूषा करने का अवसर ही न रहे।

ऐसे प्रसंगों के लिए कोई एक नियम ठहराना कठिन है। भिन्न-भिन्न परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग निर्णय करना होगा। यह कहा जा सकता है कि जहाँ किसी आदमी की वास्तव में विशेष आवश्यकता हो, वहाँ ही उसे जाना चाहिए। यदि एक मित्र धनी है, या

उसके परिवार के व्यक्ति अथवा उसके परिचित मित्र बहुत से हैं, तो वहाँ हमारे गये बिना भी काम चल जायगा। पर जिसके पास धन और जन का अभाव है, वहाँ तो हमें जाना ही चाहिए। सम्भव है, पहले रोगी के यहाँ जाने से हमें अधिक यश और प्रशंसा मिले; परन्तु यह भी तो एक कारण है, कि हमें वहाँ जाने का विचार कम करना चाहिए।

परिस्थिति-भेद; भारतवर्ष की व्यवस्था—यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि सब देशों में एक समय अथवा एक ही देश में भिन्न-भिन्न समय में नागरिकों के कर्तव्यों का आदर्श एक ही नहीं रहता। इसके अतिरिक्त, किसी एक समय में एक देश की भी भिन्न-भिन्न श्रेणियों या जुदा-जुदा अवस्था वाले मनुष्यों का कर्तव्य समान नहीं होता। एक कहावत है कि एक मनुष्य का अमृत दूसरे के लिए विष हो सकता है। इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखना आवश्यक है। इसी विचार से, भारतीय शास्त्रकारों ने गुण कर्म के अनुसार समाज के व्यक्तियों को ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त करके प्रत्येक के लिए अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित कर दिये। इसी प्रकार इन नियम-निर्माताओं ने मनुष्यों की चार अवस्थाओं का विचार करके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों की व्यवस्था की, और प्रत्येक आश्रम के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित करके सर्वसाधारण को कर्तव्य-पालन के विषय में अच्छा रास्ता दिखाया। इस व्यवस्था ने चिरकाल तक भारतवर्ष का बड़ा हित साधन किया; अब भी यह आदर्श विचारणीय है। इस पर विशेष प्रकाश आगे डाला जायगा।

दसवाँ अध्याय

विश्वबन्धुत्व

"व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्राप्त कर, या उसका अधिकारी हो मनुष्य अब विकास की सीढ़ियों पर और ऊंचा चढ़ना चाहता है। क्रमशः वह गृहस्थी की परिधि, समाज के घेरे, जाति के मंडल, राष्ट्र के व्यूह व साम्राज्य के महाव्यूह में आया। अब वहाँ से वह सार्वभौमिक बनना चाहता है। हृदय की संकीर्णता त्याग वह विश्व-नागरिक बनना—विश्वात्मा में लीन होना चाहता है।"

—अभ्युदय

समाज के क्षेत्र सम्बन्धी विकसित विचार—हम पहले बता चुके हैं कि मनुष्य अकेला रहना नहीं चाहता। वह दूसरों से मिल-जुल कर समाज का निर्माण करके उसमें रहना चाहता है। परन्तु समाज का घेरा या परिधि बदलती रहती है। पहले बाल्यावस्था में कोई व्यक्ति अपने माता-पिता को ही जानता है। धीरे-धीरे वह दूसरे रिश्तेदारों या संगी-साथियों से परिचय प्राप्त करता है। वह उनमें कुछ अपनेपन का अनुभव करने लगता है। पीछे वह अपने गाँव या नगरवालों से भाँति-भांति का सम्बन्ध स्थापित करता है। उनके सुख में सुखी और उनके दुःख में दुखी होता है। बाद में वह देश या राज्य को अपनी जन्मभूमि के रूप में देखता है। उसके सब निवासियों को वह स्वदेश-बन्धु कहता है। उसकी आत्मा, जो पहिले अपने आप को केवल उसके शरीर से सम्बन्धित समझती थी, अब देश की आत्मा से सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। वह मनुष्य अब देश के लिए नाना प्रकार

के कष्ट उठाने और प्राण तक देने में आनन्द का अनुभव करता है। यह आत्मा का विस्तार यहीं तक सीमित नहीं रहता।

संसार भर से सम्बन्ध—यदि मनुष्य के कुछ और अच्छे संस्कार होजायँ, वातावरण आदि की अनुकूलता मिले, तो वह संसार भर के न केवल मनुष्यों को वरन् प्राणी मात्र को अपना, और अपने-आप को उनका, समझने में सुख का अनुभव करता है। संसार में, खासकर भारत में, समय-समय पर ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने आचार-व्यवहार से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श उपस्थित किया है, तथा इसका सर्वसाधारण में प्रचार किया है। भारतीय साहित्य ऐसे उपदेशों से भरा पड़ा है—'सब प्राणियों को अपने जैसा समझो, सब में तुम्हारी-सी जान है, दूसरे के सुख-दुख को अपने सुख-दुख के समान मानो, समदर्शी बनो, भेद-भाव का त्याग करो, इस सृष्टि में छोटे-बड़े, निर्बल-सबल, आदि नाना प्रकार के भेद विद्यमान हैं, इस भेद में अभेद को देखो, और अभेद उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करो, स्वयं कष्ट उठाकर भी सृष्टि की विशाल आत्मा के लिए सुख के साधन जुटाओ। इत्यादि।' ये बातें बारम्बार, अनेक विधि से, विविध आचार्यों ने समझायी हैं।

कर्तव्य का व्यापक क्षेत्र—हम पहिले यह बता आये हैं कि नागरिक का अपने नगर, ग्राम, एवं राज्य के प्रति क्या कर्तव्य है। परन्तु जब हम ऊपर की बातों पर विचार करते हैं तो हमारे कर्तव्यों का क्षेत्र देश या राज्य तक ही परिमित नहीं रहता, वह संसार भर तक फैला हुआ मालूम होता है। आदमी किसी भी देश, जाति, धर्म या रंग का हो, वे सब मानव समाज के अंग हैं, मानवता के नाते, सब का एक-दूसरे से सम्बन्ध है। सब में एक आत्मा है। हमें, हमारे परिवार का या हमारे नगर-निवासियों का कोई ऐसा [illegible] सुखदायी नहीं हो सकता, जो विशाल मानवता के लिए [illegible]

इसलिए हमारा ऐसा कोई कार्य कर्तव्य कहे जाने योग्य नहीं है, जो मानव जाति की विशाल आत्मा की दृष्टि से हानिकारक हो।

क्या यह आदर्श बहुत ऊँचा है?--कर्तव्य सम्बन्धी यह आदर्श, विश्वव्यापी स्वार्थ की भावना, बहुत से आदमियों को बेहद ऊँची प्रतीत होगी। वे इसे अव्यावहारिक कहेंगे। वर्तमान परिस्थिति में बहुत कम आदमी विशाल मानवता अथवा मनुष्य मात्र की एक विशाल आत्मा की कल्पना करते है। संसार छोटे-बड़े अनेक राज्यों में बँटा हुआ है। प्रत्येक राज्य दूसरे को हानि पहुँचा कर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने में कोई बुराई नहीं समझता। यदि वे विशाल मानवता का विचार करलें तो ऐसा न हो। फिर तो वे दूसरों को कष्ट देना, उन पर आक्रमण करना, अथवा आर्थिक या राजनैतिक उपायों से उनका शोषण करना मानवता की और स्वयं अपनी, हानि करना समझें। वह समय कब आवेगा, जब नागरिक अपने कर्तव्यों का क्षेत्र केवल अपने राज्य तक ही परिमित न रखकर, संसार तक विस्तृत समझेंगे? और वे सिर्फ अपने राज्य मात्र के नागरिक न होकर संसार भर के नागरिक बनेंगे? अभी तो अनेक आदमियों को राज्य के हित का ध्यान रखना भी कुछ ऊँचा आदर्श मालूम होता है। उनके विचार संकुचित हैं, वे राज्य सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करते समय अपने नगर, प्रान्त या जाति के हित को मुख्य समझते हैं। क्रमशः इस क्षुद्रता पर उदारता की विजय होगी। आदमी अपने-अपने राज्य के हितों का निष्पक्ष रूप से विचार करेंगे। और, आशा है धीरे-धीरे उनकी दृष्टि और भी विशाल होगी और वे संसार की नागरिकता, विश्वव्यापी स्वार्थ, लोक-संग्रह और 'वसुधैव कुटम्बकम्' के आदर्श को अपनावेंगे।

क्या पशु-पक्षियों के प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है?--परिवार या कुटुम्ब मानी जानेवाली वसुधा में पशु-पक्षियों की भी

गिनती होगी ? अनेक आदमी जो अपने-आपको विश्व प्रेमी या विश्व-नागरिक कहने या समझने का दावा करते हैं, वे पशु-पक्षियों को अपने विचार-क्षेत्र में आने योग्य नहीं समझते। बहुत-से आदमी पशु-पक्षियों का शिकार केवल अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता से ही प्रेरित होकर नहीं करते, वरन् शौक से करते हैं। वे उन्हें उनके परों या चमड़े के लोभ से मारते हैं। अनेक बार तो आदमी जीव-हत्या इसलिए करते हैं कि उन्हें ऐसा करने में एक आनन्द-सा मिलता है। जब जानवर जख्मी होते हैं और तड़फड़ा कर प्राण छोड़ते हैं, तो इनके दिल पर कोई चोट नहीं लगती, वरन् मनोरंजन या दिल-बहलाव होता है। कैसी क्षुद्र और हृदय-विदारक बात है! क्या बेज़बान पशु-पक्षियों के प्रति हमारा कुछ कर्तव्य नहीं है ?

ज्यों-ज्यों मनुष्यों का ज्ञान तथा प्रेम-भाव बढ़ता है, वे जानवरों के प्रति कुछ कर्तव्य भी समझने लग जाते हैं। जंगली आदमी पशु-पक्षियों का केवल यही उपयोग समझते हैं कि उन्हें मारकर खा लिया करें, और उनके चमड़े आदि को ओढ़ने-बिछाने के काम में लावें। जब उन्हें मालूम होता है कि कुछ पशुओं से दूध मिल सकता है तो वे उन्हें मारकर एक बार ही उनका मांस खा लेने की अपेक्षा उन्हें पाल कर रखना लाभकारी समझते हैं। इसी प्रकार धीरे-धीरे जब वे खेती-बाड़ी करने लग जाते हैं और यह जान जाते हैं कि कुछ पशु अपने श्रम से हमें खेती में लाभ पहुँचा सकते हैं, या सवारी और बोझा ढोने आदि के काम आ सकते हैं तो वे उन्हें मारना छोड़ देते हैं और पालन करने लगते हैं। इस प्रकार गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बकरी, भेड़, कुत्ता आदि मनुष्यों के शिकार होने से बचने लग गये। खरगोश, हरिण आदि कुछ पशु और तोता, मैना, कबूतर आदि कुछ पक्षी अपनी सुन्दर आकृति या मधुर स्वर के कारण मनुष्य की दया के पात्र बन जाते हैं। ऐसे कुछ जीवों की रक्षा अथवा उनके प्रति निर्दयता रोकने के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों ने कुछ नियम भी बनाये हैं। किन्तु

विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त से भी यह निश्चय हुआ है कि मनुष्य एवं अन्य प्राणियों में घनिष्ठ सम्बन्ध है; सब एक शृंखला में बँधे हैं, एक ही यात्रा के पथिक हैं। सब की माता एक है; पृथ्वी माता से सब का भरण-पोषण हुआ है। विविध धर्म हमें यही शिक्षा देते हैं कि यह सब सृष्टि परमात्मा की बनायी हुई है। वह सब प्राणियों का परम पिता है; उसे ब्रह्म कहें, या अल्लाह, खुदा या 'गाड' आदि नामों से सम्बोधन करें। इस प्रकार मनुष्य एवं अन्य प्राणी सब परस्पर में भाई-बन्धु ठहरे। परमात्मा से सब का पितृ-भाव और पृथ्वी से मातृ-भाव है, तो मनुष्य को सब प्राणियों से उदारता, प्रेम और दया का व्यवहार करके अपना आदर्श न केवल मनुष्य मात्र से, वरन् प्राणी मात्र से भ्रातृ-भाव रखना चाहिए। जब ये बातें होंगी, तभी मनुष्य इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होगा। प्रिय पाठको ! क्या वह समय नहीं आयेगा ! अवश्य आयेगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

नागरिक आदर्श

"सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्"

नागरिक भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। किसी नागरिक का अपने लिए कोई काम निश्चित करना, उसकी रुचि, योग्यता, शक्ति या परिस्थिति पर निर्भर होता है। परन्तु वह जो भी काम करे, उसे खूब जी लगाकर करे, अधिक से अधिक उत्तम रीति से करे और उसमें ऊँचा, लोक-हित का आदर्श रखे। हम यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के कुछ कार्य करनेवालों के आदर्शों का विचार करते हैं।

हमारे अन्य प्रकाशन